

Shree Nisargadatta Samadhi Charitable Trust, Mumbai

श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक

NISARGAVANI

निसर्गवाणी **નિર્સર્ગવાણી** **निसर्गवाणी**

वर्ष १ ले अंक : २ रा (ऑक्टोबर ते डिसेंबर २०२५) Year 1St Issue 2nd (October-December 2025)

साधू दिसती वेगळाले । परी ते स्वरूपी मिळाले।
अवघे मिळोन एकची झाले । देहातीत वस्तू।।

११

ऑक्टोबर

आपल्या भजन आणि किर्तनातून
सर्वधर्मसमभावची शिकवण देणारे

राष्ट्रसंत
तुकडीजी महाराज



संपादक

डॉ. धीरज सर्वज्ञ : +91 9881314214

विजया नाझरे : +91 9403707936 स्मिता थोरात : +91 8698863395

तुषार नाईक : +91 8369105437 / 982188356

मुखपृष्ठ रचना: भरतभाई शिंपी, जळगाव

लेआउट डिजाइन

ज्ञेन प्रकाशन, मुंबई (निसर्गवानी टीम इनपुट अनुसार)

वेबसाईट: www.nisargdattasamadhi.in

ईमेल: nisargadattasamadhitrust2025@gmail.com

लेखों के लिए अपील

चूँकि कोई भी पत्रिका संभावित लेखकों के लेखों पर निर्भर करती है, हम आप सभी से हमें लेख भेजने की अपील करते हैं। आत्मज्ञान सभी धर्मों, जाति और पंथ से परे है। इस पहलू को याद करते हुए निसर्गवाणी में न केवल श्री निसर्गदत्त महाराज द्वारा वर्णित आत्म-ज्ञान से संबंधित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला होगी, बल्कि विभिन्न संतों की आत्म-ज्ञान की शिक्षाएं, उनके तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, जीवनी, शिक्षाएं, अन्य आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा सिखाए गए तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, हिंदू धर्म के अलावा अन्य धर्मों की शिक्षाएं और कहानियां, पवित्र ग्रंथों और छंदों की व्याख्या, आध्यात्मिक यात्रा और अंतर्दृष्टि, कविता और निश्चित रूप से हमारे योग्य पाठकों से प्रतिक्रिया भी शामिल होगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता का अपने आप में एक व्यापक और विविध आवरण पहलू है।

सुझाव

एक दिशानिर्देश के रूप में, हम अनुरोध करते हैं कि जहां तक संभव हो लेख छोटे (लगभग 750 शब्द) मध्यम (लगभग 1500 शब्द) या लंबे प्रारूप (लगभग 2300 शब्द) में होने चाहिए

कृपया अपना योगदान भेजें

through email to

nisargavaani240125@gmail.com

श्री निसर्गदत्त महाराज मूर्तिमान वेदांत हैं ।

जब वे निरूपण करते या आनंदपूर्ण संवाद करते, तो ऐसा प्रतीत होता मानो उपनिषदों की सनातन दिव्य ऋचाएँ मराठी की नौवारी साड़ी और अलंकार धारण कर उनके मुख से प्रसन्नतापूर्वक बाहर आ रही हों। अपने नाम के अनुरूप – *निसर्ग* अर्थात् सहज स्वरूप – उनकी स्वाभाविक ज्ञान-गंगा प्रवाहित होकर श्रोताओं, साधकों और शिष्यों के हृदयों तक पहुँचती, उन्हें तृप्त करती और उनके निजस्वरूप का परिचय कराती।

महाराज की शिक्षाओं का सार, वास्तव में, *दासबोध* में व्यक्त यह समर्थ वचन ही है।

एक ज्ञानाचे लक्षण ।ज्ञान म्हणिजे आत्मज्ञान ।
पाहावे आपणासी आपण ।या नाव ज्ञान ॥(द.५/स.६)

श्री निसर्गदत्त महाराज कहा करते थे: “तेरे आत्मज्ञान से अलग कोई अन्य देव, गुरु, ईश्वर या परमेश्वर नहीं है। अतः अपने ‘स्व’ को जान और शांत हो।”

आत्मज्ञान का अर्थ है – हर व्यक्ति के पास उपस्थित यह ज्ञान कि “मैं हूँ” या “हम हैं”। यही अपने अस्तित्व और जीवित रहने की प्रत्यक्ष अनुभूति है।

यह अनुभूति ही निर्गुण-निराकार स्वरूप में “अहं ब्रह्म” की प्रेरणा है। समर्थ दासबोध में कहा गया है कि इसी अनुभूति को *जगतज्योति*, *जगदंबा*, *जगदीश्वरी*, *वैष्णवी शक्ति*, *शिवा* जैसे स्त्रीवाचक नामों से और *शिव*, *जगदीश्वर*, *ईश्वर*, *विष्णु* जैसे पुरुषवाचक नामों से, तथा *ब्रह्म*, *आत्मा*, *अंतरात्मा*, *पुरुष*, *शुद्ध सत्व* के रूप में संबोधित किया गया है।

निसर्गदत्त महाराज कहते हैं: “यह तुम्हें अपने अस्तित्व की जो अनुभूति है, यही तुम्हारी शाश्वत संपत्ति है। यही अनुभूति उस स्वरूप का प्रतिबिंब है, उसके होने का समाचार है, उस स्वरूप की पहचान है। ‘मैं हूँ’ यह ज्ञान यह नहीं बताता कि क्या देखना है, बल्कि यह दर्शाता है कि किस दिशा में देखना है।”

अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से व्यक्ति की उत्पत्ति हुई। निवृत्ति से वृत्ति और वृत्ति से वृत्तियाँ उत्पन्न हुई। यही अनुभूति व्यक्त या चेतना है, जिसके रूप में प्रत्येक को अपने होने का बोध है। यह बोध व्यक्तिगत नहीं बल्कि वैश्विक है। किंतु जब यह अनुभूति शरीर, इंद्रियों और प्राणों से “मैं” कहने लगती है, तभी व्यक्ति की उत्पत्ति होती है।

स्वरूपज्ञान प्राप्त करने के लिए महाराज कहते थे कि इस अनुभूति को ही ध्यान में रखना आवश्यक है – अर्थात् “अपने को स्वयं देखो।”

महाराज कहते थे – “मन अर्थात् प्रवाहित अनुभूति।”

इस अनुभूति को विचारों और संकल्प-विकल्पों से मुक्त करना ही साधना है। विचार मुक्त अनुभूति ही साधक का लक्ष्य है।

महाराज अत्यंत सुंदरता से साधकों की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए सगुण साकार, सगुण निराकार और निर्गुण निराकार की गुंथी हुई व्याख्या करते और कहते –

“अपने होने की अनुभूति को सद्गुरु के चरण मानकर उसकी उपासना करो।”

चरण का अर्थ है गति। निर्गुण निराकार में जो पहली गति हुई, वही यह अनुभूति या अपने होने का बोध है।

महाराज आगे कहते – जब साधक गुरु-वचनों के अनुसार साधना करता है, तब यह बीज-रूप सूक्ष्म अनुभूति आगे चलकर वटवृक्ष में परिणत होकर समस्त विश्व में व्याप्त होती है और साधक को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय कराती है। वे कहते – “ज्ञान से ज्ञान का अभिषेक करो। स्मृति से स्मृति का ध्यान करो। अपनी स्मृति, अपनी पहचान को दृढ़ आलिंगन में लो।”

ऐसा करते-करते यह अनुभूति अपने ही उद्गम में विलीन हो जाती है और स्वरूपज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अत्यंत सरल, सहज किंतु श्रौत, उपनिषदिक और वेदांत-आधारित तत्वज्ञान श्री निसर्गदत्त महाराज ने इस जगत को प्रदान किया।

श्रुति माता भी समय-समय पर इसका उल्लेख करती है।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः ।सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे
व्याहरत् ततोऽहन्नामाभवत् ।तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र

उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते ॥ १ ॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण श्लोक १)

अन्वयार्थ – [पहले केवल आत्मा ही था; अन्य शरीरों की उत्पत्ति होने से पूर्व यह सम्पूर्ण शरीर-जगत् केवल आत्मा ही था ।

[सः पुरुषविधः अनुवीक्ष्य-] तो यह सोचकर कि सिर, हाथ, पैर आदि अंगों से युक्त, पुरुष के समान जो विराट है – वह मैं कौन हूँ अथवा किस लक्षण वाला हूँ? [आत्मनः अन्यत् न अपश्यत्-] हमने अपने शरीर और इंद्रियों से कुछ भी अन्य देखा नहीं। तब वह केवल हमारे अपने संपूर्ण आत्मा को ही देखा गया ।.[सः अहं अस्मि इति अग्रे व्याहरत्] उसने पूर्वकाल में स्वयं कहा – ‘मैं हूँ’.[ततः अहं नाम अभवत्] अतः वह ‘अहं’ नाम से प्रसिद्ध हुआ.

[तस्मात् एतर्हि अपि आमंत्रितः-] अतः आज भी व्यवहार में, जब किसी से उसकी पहचान ज्ञात करनी होती है, तो प्रश्न उठता है, ‘तुम कौन हो!’

[अयं अहं इति एव अग्रे उक्त्वा] वह पहले ‘मैं हूँ’ ऐसा ही कहकर [अथ अन्यत् नाम यत् अस्य भवति तत् प्रब्रूते] बाद में अपना दूसरा जो लौकिक नाम होता है, वही बताता है। इसी प्रकार... इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १०॥ कठोपनिषद् अ.१ व.२

अन्वयार्थ-

[इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्थाः] इन्द्रियाँ स्थूल हैं। जिन शब्द, स्पर्श आदि विषयों के प्रकाशन के लिए वे प्रवृत्त होती हैं, वे विषय अपने कार्यरूप इन्द्रियों से भी अधिक सूक्ष्म, व्यापक और नित्यस्वरूप हैं।

[अर्थेभ्यश्च परं मनः] उन विषयों से भी मन अधिक सूक्ष्म, महान और नित्यस्वरूप है। यहाँ ‘मन’ से तात्पर्य केवल मनःशब्द से ही नहीं, बल्कि संकल्प-विकल्प का आरम्भ करनेवाले सूक्ष्म तत्त्व से है। क्योंकि संकल्प-विकल्प का आरम्भ मन से ही होता है।

[मनसस्तु परा बुद्धिः] मन से भी बुद्धि अधिक सूक्ष्म, अधिक महान और अपाय-रहित (नाशरहित) स्वरूप है। बुद्धि का तात्पर्य निश्चय आदि का आरम्भ करनेवाले सूक्ष्म तत्त्व से है।

[बुद्धेः आत्मा महान् परः] बुद्धि से आत्मा महान और पर है। क्योंकि वह सब

प्राणियों की बुद्धियों का प्रत्यगात्मा (अंतरात्मा) है, इसलिए उसे 'आत्मा' कहा जाता है। और वह सब से अधिक महत्व का होने के कारण उसे 'महान' भी कहा जाता है।

निष्कर्ष अव्यक्त (मूल प्रकृति) से जो प्रथम हिरण्यगर्भ सम्बन्धी बोध-अबोधामक तत्त्व प्रकट हुआ, वही यह 'महान आत्मा' है, और वह बुद्धि से भी पर है – ऐसा कहा गया है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः

॥ ११ ॥ कठोपनिषद् अ. १ व. २

अन्वयार्थ - [महतः परम् अव्यक्तम्] पूर्व मंत्र में बताए गए 'महत्' से भी पर – अर्थात् उससे भी अधिक सूक्ष्म और सब से महान – 'अव्यक्त' है। वह सम्पूर्ण जगत् का बीजस्वरूप है। उसे अव्याकृत, अव्यक्तनामरूप, समस्त कार्य-कारण शक्तियों के समाहारस्वरूप कहा गया है। उसे 'अव्यक्त', 'अव्याकृत', 'आकाश' आदि नामों से भी निरूपित किया जाता है। जैसे वटवृक्ष के सूक्ष्म बीजकण में सम्पूर्ण वृक्ष की शक्ति निहित रहती है, वैसे ही परमात्मा में यह अव्यक्त शक्ति ओत-प्रोत रूप से आश्रित रहती है।

[अव्यक्तात् पुरुषः परः] उस सर्वशक्तिरूप अव्यक्त से भी 'पुरुष' श्रेष्ठ और महान है। क्योंकि वही सभी कारणों का कारण है, अतः वह और भी सूक्ष्म है। सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त कर देने के कारण उसे 'पुरुष' कहा जाता है। अब यदि किसी को यह शंका हो कि पुरुष से भी कोई और अधिक सूक्ष्म तत्त्व होगा, तो उसके निवारण के लिए मृत्यु कहता है – [पुरुषात् न परं किञ्चित्] – पुरुष से परे कुछ भी नहीं है।

[सा काष्ठा] अर्थात्, उस चिन्मातघन पुरुष से श्रेष्ठ या उससे अधिक सूक्ष्म दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार सूक्ष्मता, महानता और प्रत्यगात्मस्वरूपता की वही 'काष्ठा' – निष्ठा, पर्यवसान, अंतिम सीमा है। इन्द्रियों से प्रारंभ हुई उत्तरोत्तर सूक्ष्मता की जो परंपरा चली थी, उसकी यहाँ पर समाप्ति होती है।

[सा परा गतिः] इसलिए वह सभी गतिमान सांसारिक जीवों की सर्वोत्तम 'गति' है। परंतु यहाँ 'गति' शब्द का अर्थ केवल गमन (चलना) नहीं, बल्कि 'प्राप्ति' (लक्ष्य की प्राप्ति) है। इस भाव को प्रकट करने के लिए यह मंत्र पुरुष को ही सबका प्रत्यगात्मा ठहराता है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥ (कठोपनिषद् अ. १ व. २)

अन्वयार्थ - [एषः सर्वेषु भूतेषु गूढः आत्मा न प्रकाशते] यह पुरुष (आत्मा)

कीट-पतंग से लेकर वृक्षों तक सभी प्राणियों में गुप्त रूप से आच्छादित है। वह देखना, सुनना आदि सभी क्रियाएँ करनेवाला है और अविद्या-माया से आच्छादित है; इसलिए वही सबका आत्मा है। लेकिन गुप्त रहने के कारण यह “यह मेरा आत्मा है” – इस प्रकार किसी को भी प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता। (और ऐसा नहीं कि यदि वह किसी के सामने प्रकट नहीं होता तो उसका अस्तित्व ही नहीं है।)

[तु सूक्ष्मदर्शिभिः अग्रया सूक्ष्मया बुद्धया दृश्यते] किन्तु वह आत्मा सूक्ष्मदर्शी जनों द्वारा ही देखा जाता है। जिन्होंने “इन्द्रियों से परे विषय है” आदि पूर्वोक्त क्रम के अनुसार सूक्ष्मता की परंपरा को समझा है, और जिनका स्वभाव अत्यंत सूक्ष्म वस्तुओं को देखने का है, वे सूक्ष्मदर्शी अपनी संस्कारयुक्त, तीक्ष्ण और नुकिले अग्र के समान एकाग्र, सूक्ष्म बुद्धि से उस तत्त्व का दर्शन कर सकते हैं।

अब मृत्यु (यम) आगे उसके ज्ञान का उपाय बताने जा रहा है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति
नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥ कठोपनिषद् अ. १ व. २

अन्वयार्थ - [प्राज्ञः वाक् मनसि यच्छेत्] विवेकी पुरुष को वाणी-इन्द्रिय का मन में उपसंहार (लय) करना चाहिए। (‘मनसि’ का यह दीर्घ पाठ छंद के कारण है और ‘वाक्’ शब्द यहाँ अन्य सभी इन्द्रियों के लिए भी उपलक्षण है।)

[तत् ज्ञानं आत्मनि यच्छेत्] उस मन को उसके प्रकाशस्वरूप आत्मा – अर्थात् बुद्धि – में लीन करना चाहिए। क्योंकि बुद्धि मन और अन्य इन्द्रियों को व्याप्त करती है, इसीलिए वह उनका आत्मा, अर्थात् प्रत्यगात्मा है।

[ज्ञानं महति आत्मनि नियच्छेत्] उस बुद्धि को महान् आत्मा (महत्) में लीन करना चाहिए।

[तत् शान्ते आत्मनि यच्छेत्] और उस महान् आत्मा को शांत, निर्विशेष, अविक्रिय, सबका अंतर्दामी, बुद्धि-प्रत्यय का साक्षी – ऐसे परमात्मा में लीन करना चाहिए।

इस प्रकार पुरुष जब आत्मा में सब कार्यों का प्रविलय करता है, तब वह कृतकृत्य (सब कुछ सिद्ध करनेवाला, पूर्णता प्राप्त करनेवाला) हो जाता है।

ऊपर की श्रुति में ‘महत्’ और ‘महात्मा’ शब्द का प्रयोग केवल जागरूकता (चेतना) के लिए किया गया है – अर्थात् हर एक के भीतर उपस्थित “मैं हूँ” इस

आत्मबोध के लिए।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥

१०॥ कठोपनिषद् अध्याय २. वल्ली ३.

अन्वयार्थ – [यदा पञ्च ज्ञानानि मनसा सह अवतिष्ठन्ते] जब श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अंतःकरण (मन) सहित आत्मा में ही स्थिर हो जाती हैं,

[च बुद्धिः न विचेष्टति] और बुद्धि अपने निश्चयरूप कार्य में प्रवृत्त नहीं होती,

[तां परमा गतिं आहुः] तो उस अवस्था को 'परम गति' कहा जाता है।

अर्थात्, महाराज की शिक्षा के अनुसार जब विचार रहित, संकल्प-विकल्प रहित केवल शुद्ध चेतना शेष रहती है, और वही चेतना आगे चलकर अपने ही मूल में लीन हो जाती है, तब ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा कल्पित अविद्या का नाश होता है और आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।

इसी प्रकार गीता माँ भी हमें यही बताती है कि...

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

अर्थ: हे भारत (भरतवंशी अर्जुन), समझो कि सभी क्षेत्रों (सभी शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (जिसे क्षेत्र का ज्ञाता कहा जाता है, अर्थात् जीवात्मा) मैं ही हूँ।

और क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (उसका ज्ञाता) के विषय में जो तात्त्विक ज्ञान है, वही सच्चा ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च

॥ १०/२०

अर्थ: हे गुडाकेश (अर्जुन), मैं सभी जीवों के हृदय में वास करनेवाला आत्मा हूँ। मैं ही सभी प्राणियों का आदि, मध्य और अंत हूँ।

समर्थ ने दासबोध में जो अंतरात्मा की उपासना बताई है, वह अक्षरशः श्री निसर्गदत्त महाराज के तत्त्वज्ञान के अनुरूप ही है।

जाणिजे देव निर्गुण | जाणिजे मी तो कोण | जाणिजे अनन्यलक्षण | म्हणिजे मुक्त ॥२६॥
जितुकें जाणोन सांडिलें | तितुकें दृश्य वोलांडिलें | जाणत्यास जाणतां तुटलें | मूळ मीपणाचें

॥२७॥

न जाणतां कोटीवरी | साधनें केलीं परोपरीं | तरी मोक्षास अधिकारी | होणार नाहीं ॥२८॥

मायाब्रह्म वोळखावें | आपणास आपण जाणावें | इतुक्यासाठीं स्वभावे | चुके जन्म

॥२९॥१/४

ईश्वर निर्गुण (गुणरहित) है। जो यह जानता है कि “मैं कौन हूँ” और जो यह समझता है कि “मैं” का ब्रह्मस्वरूप के साथ अनन्य होना क्या है, वही मुक्त होता है।

व्यवहार में जितना कुछ अनुभव किया और किनारे पर रखा गया, वह केवल दृश्य है। अंततः जो जानता है, अर्थात् आत्मस्वरूप को जान लेता है, उसके लिए “मैंपन का मूल” समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार, अगर आत्मस्वरूप को न जानते हुए करोड़ों साधनाएँ भी की जाएं, तो कोई मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता।

माया और ब्रह्म का ज्ञान समझना आवश्यक है। अपने आत्मस्वरूप को (“आपण”) मायिक “मैं” द्वारा अनुभव करना चाहिए। ऐसा करने पर जन्म-मरण की भूल से स्वतः ही मोक्ष का लाभ प्राप्त हो जाता है।

प्राणी व्हावया मोकळा | आधीं पाहिजे जाणीवकळा | सकळ जाणतां निराळा |
सहजचि होये ||५०||

यदि पहले जागरूकता या ज्ञान हो, तभी मनुष्य या जीव इस दृश्य बंधन से मुक्त हो पाता है।

जो सार और असार, स्थूल और सूक्ष्म – सब कुछ जानता है, वह सहज ही अलग रहता है और मोक्ष की स्थिति का अधिकारी बन जाता है। कांहींच नेणिजे तें अज्ञान | सकळ जाणिजे तें ज्ञान | जाणीव राहातां विज्ञान | स्वयेचि आत्मा ||५१|| (विकल्पनिर्शननाम समास सातवा || १.७)

“कहीं नहीं पकड़ पाना” अर्थात् दृश्य वस्तु का वास्तविक स्वरूप न समझ पाना – यही अज्ञान है।

जो सब कुछ जानता है और उसका वास्तविक स्वरूप समझता है – वही ज्ञान है।

यह ज्ञानरूप जागरूकता पीछे रह जाती है और उसका विज्ञान अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार होता है।

वासना जाणिजे जाणीवहेत | जाणीव मुळींचा मूळतंत | मूळमायेत असे मिश्रित |
कारणरूपें ||१३||

कारणरूप आहे ब्रह्मांडीं | कार्यरूपें वर्ते पिंडीं | अनुमानितां तांतडीं | अनुमानेना
||१४|| (देहान्तनिरूपणनाम || १.८)

देह-बुद्धि में जो जागरूकता होती है, वह हेतुसहित होती है। अर्थात् “मुझे यह

चाहिए / वह नहीं चाहिए” – यही जागरूकता का स्वरूप है, जिसे **वासना** कहते हैं।

जागरूकता का संबंध **मूलमाया** की अष्टधा प्रकृति से होता है। इस प्रकार, जागरूकता का मूल सूत्र **मूलमाया में** कारणरूप से मिश्रित रहता है।

सृष्टि में उपस्थित जागरूकता **कारणरूप** है। पिंड (शरीर) में यह जागरूकता **कार्यरूप** में क्रियाशील रहती है। इसका स्वरूप तुरंत पूरी तरह समझ में नहीं आता, पर यह जागरूकता वायु की तरह **सूक्ष्म** है।

जाणीवरूप मूलमाया | जाणीव जाते आपल्या ठाया | गुप्त प्रगट होऊनियां | विश्वीं
वर्ते ||२६||
(देहान्तनिरूपण-२ नाम समास आठवा || १.८)

मूलमाया जागरूकता (जाणीव) का रूप है। यह जागरूकता अपने स्थान, अर्थात् स्वरूप के स्थान में सहज चली जाती है। स्वरूप में लीन हुई यह जागरूकता **स्तब्ध** रहती है।

आगे, संदेह निवारण के विषय में, नववें दशक के नववें समास में संकेत कुबडीकार श्री हंसराज स्वामी कहते हैं:

नववा म्हणें ब्रह्मास । ब्रह्मांडें भेदिलें सावकास । अरें आकाशीं लाविलें दीपास ।
तरी काय तेणेंभेदिलें ॥संकु९-४४॥
सागरामध्ये खसखस । तैसें परब्रह्मीं दृश्य । मतीसारिखा मतिप्रकाश । अंतरी वाटें
॥ संकु९-४५॥
वृत्ति करितां विशाल । पाहतां ब्रह्मांड बदरीफळ । ब्रह्माकार होतां केवळ । कांहीं
नाहीं ॥ संकु९-४६॥
आपण अविवेकें लाहनाळला । वेगळा देहधारीं जाला । मग हें ब्रह्मांड तयाला ।
कवळेल कैसें ॥ संकु९-४७॥
तरी वृत्ति ऐसीं वाढवावीं । पसरून नाहींच करावीं । परब्रह्मास पुरवावीं चहुंकडें ॥
संकु९-४८॥

अर्थात्, नववें समास में यह स्पष्ट किया गया है कि **ब्रह्म और ब्रह्मांड के बीच कोई भेद नहीं है**। ब्रह्म को ब्रह्मांड ने धीरे-धीरे विभक्त किया, ऐसा कहना गलत है।

जैसे अगर आकाश में दीपक जलाया जाए, तो क्या उसने आकाश को विभाजित कर दिया? उसी प्रकार ब्रह्म में ब्रह्मांड विद्यमान है।

सागर में जितनी सतह दिखाई देती है, उसी प्रकार ब्रह्म में दृश्य का स्थान होता है। हमारी बुद्धि जितनी सूक्ष्म या विस्तृत है, उसी अनुपात में उस बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश पड़ता है। जब वृत्ति व्यापक होती है, तब ब्रह्मांड बड़ा दिखाई देता है। और अगर वृत्ति ब्रह्माकार रूप ले ले, तो ब्रह्मांड नामक वस्तु ही दिखाई नहीं देती।

लेकिन यदि हम अविवेकपूर्ण होकर छोटे रह जाएँ, तो हमारी वृत्ति देह के आकार की हो जाती है। तब ब्रह्मांड को हम कैसे समेट सकते हैं? इसलिए वृत्ति इतनी व्यापक करनी चाहिए कि वह प्रसारित होकर परब्रह्म के समान व्यापक हो जाए। इस प्रकार वह अंततः निष्क्रिय और व्यापक हो जाएगी।

इस विश्व में सभी घटनाएँ अंतरात्मा की सत्ता द्वारा होती हैं। अनंत अंतरात्मा ही दृष्टा और सर्वसाक्षी है। इस जागरूक, चैतन्य रूप अंतरात्मा को जगदीश्वर कहा जाता है। यही जगदीश्वर सभी जगह अपनी सत्ता से कार्य करता है। वही सम्पूर्ण जगत और जीवों का धारण, पोषण और संरक्षण करता है। वही सम्पूर्ण ज्ञानमय है। उसी ज्ञान-सामर्थ्य की शक्ति से जगत की सभी व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से चलती हैं।

जगत में प्रकट हो रहे मूल संकल्प के स्वरूप को केवल भाग्यवान पुरुष ही समझ पाता है। साधक को उस अंतरात्मा का अनुसंधान करना चाहिए और उसका ध्यान रखना चाहिए। तब उसी से ज्ञान का उदय होता है। देव और भक्त तब एकरूप हो जाते हैं। इसलिए उपासना ज्ञानस्वरूप होती है।

“मैं वही हूँ” – यह महाकारण (सर्व कारण) देह है। अंततः इसे त्यागना आवश्यक है, तभी अनुभव की पूर्णता होती है।

श्री हंसराज स्वामी कहते हैं: “चौथा कहता है – सभी चीजें चल रही हैं। वही दृष्टा-साक्षी है। उपासना उसे ध्यान में रखकर करनी चाहिए। तभी वही ज्ञान है।”,

चौथा म्हणें सर्व चालवीं । तें द्रष्टा साक्षीची उठाठेवीं । उपासना नेहटून पहावीं ।

तरी तेंचि ज्ञान ॥

संकु २०-१६॥

मूल संकल्प मूल जाणीव । ज्ञान उपासना हें अपूर्व । दोहोसीं पाहतां अभिनव ।

अधिष्ठान आपण असें ॥संकु२०-१७॥

तेंचि परब्रह्म जाणावें । दुजेवीण उर्गेचि असावें । निर्विकार तें स्वभावें । असतचि

असें ॥संखु २०-१८॥

अर्थात्, इस समास में यह स्पष्ट किया गया है कि द्रष्टा का अर्थ है “देखने वाला” और साक्षी का अर्थ है “जानने वाला” — इन दोनों में भेद है।

यहाँ बताया गया है कि सर्व जीवों के अंतरात्मा में स्थित जगदीश यह संसार कैसे संचालित करता है।

उपासना का अर्थ है अंतरात्मा की पहचान करना। यह हमारी अपनी पहचान होती है। यही सत्य ज्ञान है।

मूल संकल्प का अर्थ है मूल जागरूकता। यही ज्ञान और यही उपासना का आधार है, और उसका अधिष्ठान हम स्वयं होते हैं।

इसका अनुभव होने पर इसे परब्रह्म के रूप में जाना जाता है। भिन्न कोई तत्त्व इसके अलावा नहीं होता। यह अद्वैत रूप में ही स्थिर रहता है। प्रकृति से ही यह निर्विकार है।

प्रगट रामाचें निशाण | आत्माराम ज्ञानघन | विश्वंभर विद्यमान | भाग्यें कळे || १४
|| दासबोध:२०.४||

“प्रगट रामाचें निशाण” का अर्थ है कि सगुण और निर्गुण का समावेश करने वाला परब्रह्म “राम” के नाम से प्रकट हुआ है। इसका निशाण शुद्ध जागरूकता और जगत् रूप के रूप में प्रत्यक्ष ज्ञात है।

आत्माराम, अर्थात् आत्मचैतन्य, सर्वत्र व्याप्त है। यह ज्ञानघन है, अर्थात् ज्ञानरूप और ज्ञानमय परब्रह्म है। यह इस विश्व में व्याप्त होने के कारण संपूर्ण विश्वभर है। वह सत्तारूप में सर्वत्र विद्यमान है। वर्तमान समय में इसका अस्तित्व हमेशा सर्वत्र है, और यह अस्तित्व केवल बड़े भाग्य से ही किसी को अनुभव होता है।

अंत में, श्री निसर्गदत्त महाराज का एक वचन लेकर इसे संक्षेप करते हैं। वे कहते हैं: “शांत रहो और ‘मैं हूँ’ की जागरूकता पर ध्यान दो। अंतिम सत्य या स्वरूप बिल्कुल उसी के पीछे है। यह प्रकट होगा; या कहें, यह तुम्हें स्वयं में समेट लेगा।”

जय सद्गुरु





श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरीटेबल ट्रस्ट

Nisargavaani

निसर्गवाणी

ನಿಸರ್ಗವಾಣಿ

निसर्गबानी

वर्ष १ अंक २

ऑक्टोबर - डिसेंबर २०२५

च य नि का
∞

श्री हंसराज स्वामी का जीवन परिचय

प्रत्यक्ष मार्ग

श्री निसर्गदत्त महाराज की स्वरूपवाणी

खोया हुआ अवसर

निर्भयता का खजाना

पतंजल अष्टांग योग और निसर्गदत्त महाराज का स्वरूपज्ञान योग

योगी पावन मनाचा

श्री हंसराज स्वामी संक्षिप्त चरित्र

हंसराज स्वामी का मूल नाम नारायण था। ई.स. 1805 में परभणी में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम गंगाधरपंत और माता का नाम रेणुकाबाई था। उनके जन्म के तुरंत बाद ही गंगाधरपंत की नौकरी छूट गई। इस कारण परिवार को जीविका के लिए गाँव-गाँव भटकना पड़ा। नारायण का विवाह बारह वर्ष की आयु में कर दिया गया। पत्नी का नाम लक्ष्मी था। इससे खाने वाले मुखों की संख्या बढ़ गई। बड़े भाई ने अलग होकर स्वतंत्र रहना प्रारम्भ किया। इस कारण नारायण को चौदह वर्ष की आयु में ही घर छोड़कर नौकरी व उद्योग की तलाश में बाहर निकलना पड़ा। उन्हें अनेक छोटी-बड़ी नौकरियाँ करनी पड़ीं। बचपन से ही उन्हें परमार्थ का रुचि थी। परमार्थ संबंधी ग्रंथ पढ़ने का उन्हें विशेष लगाव था। उन्होंने बहुत से ग्रंथ पढ़े, किंतु उन्हें तृप्ति नहीं मिली। उन्हें सतगुरु की प्राप्ति की प्रबल इच्छा थी। गुरु की खोज करते समय उन्हें वसमत के लक्ष्मणराव के पास जाने की प्रेरणा मिली। लक्ष्मणराव ने उनकी निष्ठा देखकर उन्हें अनुग्रह दिया। लक्ष्मणराव समर्थों से चली आ रही उद्धव परंपरा के छठे पुरुष थे। 'हंस पद्धति' ग्रंथ में उनकी परंपरा आदिनारायण (हंसावतार)-ब्रह्मदेव-वसिष्ठ-रामचंद्र-समर्थ रामदास-उद्धव-माधव-रुद्रराम-नागनाथ-लक्ष्मण नारायण इस प्रकार बताई गई है। हंस पद्धति के कर्ता ने इस परंपरा को हंस संप्रदाय नाम दिया है। इसी कारण उनका नाम 'हंसराज' प्रचलित हुआ, ऐसा हंस पद्धतिकार का कहना है।

गुरु का अनुग्रह प्राप्त होने के बाद हंसराज, गुरुसेवा का लाभ लेने के लिए गुरु के ही सान्निध्य में, किंतु अलग निवास बनाकर रहने लगे। कुछ समय बाद उनकी पत्नी गर्भवती हुई। वह सातवें महीने में ही प्रसव पीड़ा में आ गई और शिशु मृत अवस्था में

जन्मा। उनकी पत्नी भी कुछ ही दिनों बाद चल बसी। इस प्रकार हंसराज के गृहबंधन टूट गए और वे स्वतंत्र रूप से संचार करने के लिए मुक्त हो गए।

इधर-उधर घूमते-घूमते हंसराज स्वामी पंढरपुर पहुँचे हाँ उनका परिचय जनार्दन उत्पात और सखाराम बाबा डोमगांवकर से हुआ। इसी समय उन्हें 'पूर्णाश्रम' नामक उत्तरी प्रदेश के एक संन्यासी मिले। हंसराज स्वामी ने उनसे 'प्रेष मंत्र' सीखा। पूर्णाश्रम स्वामी के उत्तर की ओर प्रस्थान करने के कुछ दिनों बाद, हंसराज स्वामी ने उसी प्रेष मंत्र का उच्चारण कर संन्यास दीक्षा ग्रहण की और वे 'नारायणतीर्थ' कहलाए। रघुनाथशास्त्री गोडबोले के अनुसार उनकी इस परमहंस दीक्षा के कारण ही उनका नाम 'हंसराज' प्रचलित हुआ।

पंढरपुर में कुछ समय रहने के बाद, सखाराम बाबा डोमगांवकर के आग्रहवश हंसराज स्वामी डोमगांव आए। वे डोमगांव में सन् 1834 से 1840 तक रहे होंगे। उस समय उन्होंने चार ग्रंथों की रचना की, ऐसा हंस पद्धति के लेखक कहते हैं। ई.स. 1840 के आसपास सखाराम बाबा का हैदराबाद में निधन हो गया। तब हंसराज स्वामी को डोमगांव में रहना उचित न लगा और वे परंडा आ गए। वहाँ उन्हें बड़ा शिष्य समुदाय मिला। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। सन् 1855 में उन्होंने योगसमाधि लेकर देह त्याग किया। परंडा में ही उनकी समाधि है।

बचपन में उनके शिक्षण की बहुत उपेक्षा हुई। संभवतः उनका औपचारिक शिक्षण हुआ ही नहीं था। इस पृष्ठभूमि में उन्होंने जो ग्रंथ-रचना की, उसे एक आश्चर्य ही मानना होगा। उनके चरित्रकार बताते हैं कि उनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी। संस्कृत का व्यवस्थित अध्ययन न होने पर भी उन्होंने अपने अध्ययन और लगन के बल पर 'स्वात्मादर्श' नामक संस्कृत ग्रंथ लिखा। शंकराचार्य के ग्रंथों, प्रमुख उपनिषदों और अन्य वेदान्त संबंधित ग्रंथों का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। प्राचीन मराठी के सभी प्रमुख संत-कवियों की रचनाओं का भी उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था।

हंसराज स्वामी ने कुल 14 ग्रंथों की रचना की। उनकी वर्गीकरण इस प्रकार है:

1. अनुपलब्ध ग्रंथ

1. गुरुभक्तिसार
2. स्वात्मादर्श (संस्कृत)
3. कथाकल्पलता (दस प्रकरण)
4. भक्ति-ज्ञान-वैराग्य पर स्फुट अभंग और पद्य (संख्या अज्ञात)

2. आंशिक रूप से उपलब्ध ग्रंथ

1. कथाकल्पलता (आठ प्रकरण)
2. भक्ति-ज्ञान-वैराग्य पर स्फुट अभंग और पद्य

3. अप्रकाशित ग्रंथ

1. गद्यरूप तत्त्वज्ञाडा
2. पूर्वारंभगाथा (दोनों गद्यरूप)
(यह ग्रंथ अब प्रकाशित हो रहा है।)

4. प्रकाशित ग्रंथ

1. आगमसार
2. संकेत कुबड़ी
3. कथाकल्पलता
4. सदाचार
5. चुडालाख्यान
6. वेदेश्वरी (शिवगीता पर टीका)
7. लघुवाक्य वृत्ति-टीका
8. वेदाज्ञा (ईशावास्योपनिषद् पर टीका)
9. वेद नामक पद्य
10. अनुभवामृत (समसंख्या ओवीबद्ध टीका)

वर्तमान में उपलब्ध ग्रंथों की संख्या प्राचीन पद्धति के अनुसार लगभग 37,000 श्लोकों तक पहुँचती है। ऊपर उल्लेखित ग्रंथों में 'वेदेश्वरी', 'वेदाज्ञा', 'वेद' नामक पद्य आदि नामों में जो 'वेद' शब्द आता है, वह वास्तव में हंसराज स्वामी का ग्रंथनाम अथवा उनकी विशेष मुद्रा है।

इन ग्रंथों की खास विशेषताएँ इस प्रकार बताई जा सकती हैं। ये ग्रंथ किसी न किसी शिष्य के अनुरोध पर लिखे गए हैं। सभी ग्रंथ वेदांतपरक हैं। इनमें हंसराज स्वामी ने शुद्ध वेदांत का प्रतिपादन किया है। उनकी तो प्रतिज्ञा ही थी – 'यदि समुच्चय भी हो तो भी मैं वेदांतसम्मत ही बोलूँगा।'

फिर भी इन ग्रंथों में पर्याप्त विविधता मिलती है। इनमें सामान्यतः पुनरावृत्ति नहीं

मिलती। आख्यानात्मक, विवरणात्मक, ग्रंथ-संक्षेप रूपी, ग्रंथ-व्याख्यात्मक टीका-ग्रंथ, संस्कृत ग्रंथों पर टीका, मराठी ग्रंथों पर टीका, पद्यग्रंथ, गद्यग्रंथ – ऐसे अनेक प्रकार इन में मिलते हैं। सभी ग्रंथ प्रबोधक (जागृति देने वाले) हैं। इनमें स्पष्ट दिखाई देता है कि पाठक को वेदांत का ज्ञान मिलना ही मुख्य उद्देश्य है।

चूँकि उद्देश्य शिष्य-प्रबोधन का था, इसलिए इन ग्रंथों की रचना किसी पाठ्यपुस्तक की भाँति सावधानीपूर्वक की गई है। प्रत्येक ग्रंथ में प्रायः ‘अनुबंध चतुष्टय’ की चर्चा होती है। इसके बाद ग्रंथ को ज्ञानखंड और अभ्यासखंड – इन दो भागों में विभाजित किया गया है। ज्ञानखंड में वेदांत-प्रणीत ज्ञान-प्रक्रिया समझाई गई है, और अभ्यासखंड में इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनाओं का वर्णन किया गया है।

इन साधनाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म चरण हंसराज स्वामी ने जिस बारीकी से बताया है, उतने विस्तार से अन्यत्र मिलते नहीं। इसलिए यह ‘अभ्यास-मीमांसा’ हंसराज स्वामी की अद्वितीय विशेषता कही जा सकती है।

हंसराज स्वामी के ग्रंथों की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने अपने लेखन के लिए ऐसे विषय चुने, जिन पर पहले के किसी लेखक ने हाथ नहीं डाला था। उपनिषदें, शंकराचार्य के प्रकरण ग्रंथ, योगवासिष्ठ, शिवगीता, अमृतानुभव, पंचदशी – इन पर उन्होंने टीका लिखने का कार्य किया।

इसी कारण प्रा. न. र. फाटक कहते हैं – “इस पुरुष की ग्रंथरचना की विशेषता यह है कि जिन पुराने वेदांत-प्रदेशों की सामान्यतः पहले के ग्रंथकारों ने उपेक्षा की थी, उनका परिचय कराने का कार्य हंसराज ने किया।”

हंसराज स्वामी ज्ञानमार्गी हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि मोक्ष केवल शुद्ध ज्ञान से ही संभव है, किसी अन्य मार्ग से नहीं। अपने इस मत के लिए वे किसी प्रकार की तड़जोड़ करने को तैयार नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य मार्गों को पूर्णतः नकारते हैं। साधना-काल में वे उनके महत्व को स्वीकार करते हैं, किंतु अंततः यही कहते हैं कि – “ज्ञान ही श्रेष्ठ साधन है और वही साध्य भी।” मराठी संतसाहित्य में यह उनका विलक्षण और अप्रतिम वैशिष्ट्य है।

निसर्गवाणी त्रैमासिक के इस अंक में इस महान संत का प्रथम परिचय पाठकों के समक्ष लाना ही उद्देश्य है। उनके आध्यात्मिक ग्रंथ-साहित्य का विस्तृत अध्ययन हम अगले अंकों से क्रमशः आरंभ करने वाले हैं।



प्रत्यक्ष मार्ग

श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक पर भाष्य करते हुए टीकाकार कहते हैं कि कुछ अपवादों को छोड़कर हम अधिकांश लोग द्वैत में ही उलझे हुए हैं। जैसे कोई जीव यदि जेल में बंद हो, तो जेल से बाहर निकलने का तरीका उस मार्गदर्शक पुस्तिका में स्पष्ट रूप से न लिखा हो, फिर भी वह उसी का अध्ययन करता है—वैसे ही यह द्वैत में की जाने वाली साधना है। श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसी अत्युत्तम और गहन आध्यात्मिक टीका है, जो साधक को आध्यात्मिक यात्रा के केंद्रबिंदु तक पहुँचा देती है। परमार्थ का अध्ययन करते समय अनेक साधक जो भ्रमित पद्धतियाँ अपनाते हैं, उनके मूलभूत दोषों को उजागर करने वाली यह एक प्रभावशाली वाणी है।

अज्ञान का पिंजरा

सबसे पहले यह समझें कि तुरंग या पिंजरा वास्तव में क्या है। जिस संसार में हम रहते हैं, जिसे हम जानते हैं—वह विरोधाभासों से भरा हुआ है। अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य, सुख-दुख, सफलता-विफलता, प्रकाश-अंधकारऐसे द्वंद्वों से यह जगत रचा गया है। हमने इस द्वैतमय स्वरूप को ही सहज रूप से स्वीकार कर लिया है। हमारा शरीर, हमारा 'मैं' इसी समझ पर आधारित होकर विकसित हुआ है। हम निरंतर इन्हीं विरोधी युग्मों के आधार पर अपने निर्णय लेते हैं, अर्थ निकालते हैं, और अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं। सुख की खोज में हम जीवनभर दौड़ते हैं, और दुख से बचने का प्रयास करते रहते हैं। इच्छा और अनिच्छा के द्वंद्व में हम फँस जाते हैं। अधिकांश लोग इसी जाल में उलझे रहते हैं—इतना ही नहीं, वे इसी पिंजरे की दीवारों के भीतर रहकर अपना जीवन सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं।

दोषयुक्त साधना पद्धति

यहाँ 'कारागृह मार्गदर्शक पुस्तिका' का महत्व प्रकट होता है। शरीररूपी बंदीगृह में रहने वाले कैदी को जीवन कैसे सहज और सहनीय बने, इसके लिए आध्यात्मिक नियम और तत्वों का मार्गदर्शन, तथा इस बंदीगृह से मुक्ति पाने का पथ कैसे होगा यह इस पुस्तिका में समाहित होता है।

आगे दिए गए साधना के प्रकार इसी मार्गदर्शक के उदाहरणस्वरूप हैं—जिनका अध्ययन करना आवश्यक है।

- मृत्यु के बाद परलोक का जीवन श्रेष्ठ हो इस उद्देश्य से कुछ कर्मकांड किए जाते हैं। संक्षेप में कहें तो यह द्वैत मार्ग एक लेन-देन की पद्धति है। जैसे सत्कर्म करने पर अच्छा फल मिलता है, और दुष्कर्म करने पर बुरा फल। इसमें उद्देश्य होता है कि अगले जन्म में जीवन सुखमय हो। लेकिन जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति—यह लक्ष्य इस मार्ग में नहीं आता।
- समाज में मान-सम्मान प्राप्त हो इस उद्देश्य से सदाचरण बनाए रखना। इसके द्वारा जनसमाज में अपना स्थान कैसे पूर्ण और प्रतिष्ठित हो सकता है, यह साधा जा सकता है।
- मंत्र जप या ध्यान करना—इससे तनाव कम होता है। यह साधना एक प्रकार से तनाव पर विजय पाने का एक साधन है, जिससे बंदीगृह जैसा जीवन कुछ हद तक सहज बन सकता है। किन्तु मूल रूप से यह बंदीगृह कैसा है, इसका साक्षात् ज्ञान इस साधना से नहीं हो पाता।

उपरोक्त साधनाएँ यम-नियम जैसे सूत्रों की दृष्टि से निश्चित रूप से श्रेष्ठ हैं। लेकिन देहबुद्धि रूपी अज्ञान की कोठरी से मुक्ति कैसे मिले—यह बताने वाला मूलभूत भाग इनमें समाहित नहीं है। ये नियम आपको सदाचारी, शांतिप्रिय और आदर्श बंदी बनने की शिक्षा तो देंगे, परंतु द्वैतज्ञान से परे जो सत्य का मार्ग है, उसे दिखाने में ये समर्थ नहीं हैं।

मुक्ति का सच्चा मार्ग

श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— हजारों मनुष्यों में कोई एक ही ऐसा होता है जो पूर्ण पद की आस्था रखता है, और जो उस पूर्ण पद को प्राप्त करता है, वही मेरे सत्य और नित्य स्वरूप को जान पाता है। यह समझ अत्यंत दुर्लभ है। वह अत्यंत दुर्लभ व्यक्ति ही होता है जो बंधन रूपी मार्गदर्शक

पुस्तिका को एक ओर रखकर उसके पार के ज्ञान की ओर बढ़ता है। उसके लिए साधना का उद्देश्य कुछ अर्जित करना नहीं होता, बल्कि वह सीढ़ी दर सीढ़ी द्वैत की नींव को उखाड़ फेंकने का मार्ग अपनाता है।

यह अद्वैत का मार्ग है। सुख और दुःख, यश और अपयश—ये एक ही सिक्के की दो भिन्न दिशाएँ हैं। केवल मन के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। सच्चे साधक इन सबके पीछे नहीं जाते, वे केवल उस अंतिम सत्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं, जिसमें कोई द्वैत नहीं होता।

यह अपने 'स्व' की खोज का प्रत्यक्ष मार्ग है। "मैं कौन हूँ?"—इसी मूल प्रश्न में मुक्ति का मार्ग छिपा है। देहबुद्धि जीवनभर एक प्रकार के बंधन रूपी कारागार में साथ रहती है। उसे पिघलाने के लिए यह साधना है। जब देहबुद्धि समाप्त हो जाती है, तब द्वैत का पिंजरा स्वयं ही अदृश्य हो जाता है।

इस मार्ग में केवल पूर्ण शरणागति, अर्थात् निरंतर समर्पित भक्ति ही बताई गई है। इसके द्वारा व्यक्तिगत 'मैं' उस परम तत्व से संयोग प्राप्त करता है। भक्त और भगवान के बीच का द्वैत समाप्त हो जाता है और महामिलन घटित होता है।

सारांश यह है कि परमार्थ का अर्थ अज्ञान रूपी पिंजरे में रहकर अच्छा जीवन भोगना नहीं है, बल्कि यह पहचानना है कि हम मूलतः ऐसे बंधनों में फंसे हुए जीव नहीं हैं। कारागार की मार्गदर्शक पुस्तिका केवल हमारी मानी हुई एक सुनी-सुनाई कल्पना है—ऐसी पहचान भीतर जागृत होती है। वह दुर्लभ साधक ही होता है जो अत्यंत धैर्य और जागरूक प्रयास से उस पुस्तिका से दूर रहता है और सत्य की ओर, मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

— हेमंत कुमार



सद्गुरु श्री निसर्गदत्त महाराज की स्वरूपवाणी

I AM THAT जैसे आधुनिक उपनिषद् के जनक, परम पूज्य सद्गुरु श्री निसर्गदत्त महाराज एक ऐसे सिद्ध संत हैं, जिन्होंने अंतिम सत्य की खोज में लगे देश-विदेश के असंख्य जिज्ञासु साधकों को दिशा और प्रेरणा दी है। उनके विमल चरणों में, मेरे हृदय में गहराई से उपजी कृतज्ञता के साथ मनोमन नमन करते हुए, 'निसर्गवाणी' इस आध्यात्मिक -पत्रिका के प्रकाशन का पावन अवसर साध रहा हूँ। यह मेरे अंतर्मन की श्रद्धा है, जो आप सभी वंदनीय, सुजाण आत्माओं के प्रति सादर प्रकट कर रहा हूँ।

श्री महाराज ने अपने प्रत्येक निरूपण में 'स्व' की अनुभूति और 'मैं हूँ' इस मूल विचार को अत्यंत आग्रहपूर्वक, किंतु विविध और सहज भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अद्वैत वेदांत के इस गहन तत्त्वज्ञान को भक्ति की सुंदर झालर से सजाकर ऐसा रूप दिया है कि एक सामान्य साधक भी उसे सहजता से समझ सके, हृदय से अनुभव कर सके। कई स्थानों पर एक ही बात की पुनरावृत्ति भी दिखाई देती है। परंतु वह केवल दोहराव नहीं, बल्कि साधक के अंतःकरण में उस सत्य को गहराई से अंकित करने का उनका सच्चा प्रयास है। श्री महाराज के सभी विचार उनके आत्मदर्शन से प्रस्फुटित हुए हैं। यह उनके भीतर के प्रकाश का सहज, निर्मल और उत्फुल्ल प्रकटन है।

“स्व' को जानो और 'स्वस्थ' बनो” यही श्री महाराज की स्वरूपवाणी है। यह अमृतमय अद्वैत बोधवचन है। यह 'स्व' वास्तव में है क्या? इसकी पहचान कराने के लिए सद्गुरु जो अमृतवचन सुनाते हैं, उनका भाव समझना आवश्यक है। वही मेरा स्वयंपूर्ण, स्वयंमंगल, स्वयंसिद्ध स्वरूप है। मैं अमृत हूँ। मैं अमर हूँ। मरणशील जगत

में जो अमर तत्व है,, वह मैं ही हूँ। मैं स्वयं उसी के अनुरूप हूँ। ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए। तब निश्चित ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह 'स्व' क्या है। सद्गुरु कहते हैं, "मैं वही हूँ" (सोऽहम्), "मैं आत्मा हूँ, जो परमात्मा से एक है" (हंसा), "तू वही है" (तत्त्वमसि)।

मैं ही परमेश्वर हूँ। वही ब्रह्म तू ही है। तू अनादि है, अनंत है। तू अजन्मा है — जिसे न जन्म है, न मृत्यु। न सुख का बंधन, न दुःख का स्पर्श। न पाप, न पुण्य ! तू इन सबसे परे है। तू केवल स्वरूप है — शुद्ध, निर्लेप, आत्मस्वरूप। ऐसा ज्ञान जब भीतर जागता है, तब आत्मा अपने सत्य को पहचानती है। इस ज्ञान की पहचान क्या है?

समर्थ रामदास स्वामी ने ग्रंथराज 'दासबोध' में इसका अत्यंत यथार्थ और गहन वर्णन किया है

एक ज्ञानार्थे लक्षण । ज्ञान म्हाणिजे आत्मज्ञान ।

पहावे आपणासि आपण । या नाव ज्ञान ॥

मुख्य देवास जाणावे । सत्य स्वरूप वोळखावे ।

नित्यानित्य विचारवे । या नाव ज्ञान ॥

(अर्थात : ज्ञान का लक्षण यही है और ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान । स्वयं को स्वयं के रूप में देखना यही ज्ञान है। मुख्य देवता को पहचानना, उसके सत्य स्वरूप को जानना यही ज्ञान है। नित्य और अनित्य का विवेक करना यही ज्ञान है)

अब समर्थ रामदास स्वामी की वाणी में हमें आगे का मार्गदर्शन प्राप्त होता है –

सोहं आत्मा स्वानंदधन । अजन्मा तो तूंचि जाण ।

हेंचि साधूचें वचन । सहृद धरावे ॥

(अर्थात : मैं ही आत्मा हूँ – स्वानंद से परिपूर्ण । मैं अजन्मा हूँ यही सच्चा ज्ञान है। यह संतों की वाणी है, इसे दृढ़ता से धारण करना चाहिए।)

सद्गुरु के वचनों में अटूट श्रद्धा रखकर, मैं स्वयं ही अपने भीतर उतरकर 'अंतिम सत्य' की खोज करना चाहता हूँ। इस खोज की यात्रा में एक ऐसा क्षण आता है, जब साधक को यह परम सत्य साक्षात् अनुभव होता है कि जिसे वह खोज रहा था, वही "अंतिम सत्य" वह स्वयं ही है। संत तुकाराम महाराज कहते हैं: "मैं भगवान को देखने

गया, पर वहाँ पहुँचकर स्वयं ही भगवान बन गया।” अर्थात् जब साधक सच्चे भाव से ईश्वर के दर्शन की आकांक्षा करता है, तब वह स्वयं ही उस दिव्यता में विलीन हो जाता है। वहाँ ‘मैं’ नहीं रहता, केवल ‘वह’ ही रह जाता है। यही भक्ति की चरम अवस्था है, जहाँ देखने वाला ही देखे जाने वाला बन जाता है। ऐसी अनुभूति साधक को धीरे-धीरे प्राप्त होने लगती है। साधना सफल होती है। सद्गुरु की कृपा का अनुपम लाभ मिलता है – और सभी शंकाएँ व आशंकाएँ विलीन हो जाती हैं। अंतर्दामी ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है। भीतर आत्मविश्वास जागृत होता है और उस क्षण आत्मबोध उदित होता है: ‘मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। मैं ही शुद्ध ज्ञान हूँ।’ जब यह अनुभूति प्रकट होती है, तब सद्गुरु के वचनों पर विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। ऐसे समय में, गहन कृतज्ञता की भावना से भरकर साधक बार-बार श्रीसद्गुरु के चरणकमलों में नतमस्तक होता है। और उस ओवी की सत्यता उजागर होती है – **“आपणासारीखे करीती तात्काळ। नाही काळ वेळ तया लागी ॥** अर्थात् : ‘आप जैसे कृपा करते हैं तुरंत, उसमें कोई समय या विलंब नहीं लगता।’

(अर्थात् : जब साधक अंतर्मुख होता है, तो जन्म और मृत्यु की अनजानी भय भावना धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। जैसे उस गीत में बतख की अवस्था —

‘भय और भ्रम हवा के साथ उड़ गए’ वैसी ही स्थिति भीतर घटित होती है।

और तब अनायास ही यह अनुभूति प्रकट होती है: ‘काल पीछे हट गया, सद्गुरु की कृपा हुई, और हर दिशा में आनंद ही आनंद फैल गया।’ यह दुर्लभ मानव जन्म मिला, सद्गुरु की कृपा से सारी भ्रांतियाँ मिट गई, और जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो गया।’)

ऐसी अवस्था में, काकड़ आरती की ये पंक्तियाँ सहज ही हृदय में गूँजने लगती हैं **“दुर्लभ नरदेहाची प्राप्ती, सद्गुरुकृपेने फिटली भ्रांती, ””जन्म मरण चुकले रेऽऽऽ”** (अर्थात्: जैसे आत्मा स्वयं आरती बनकर प्रभु के चरणों में झुकती है। सद्गुरुभक्ति की विशेषता यही है कि ‘मैं वास्तव में कौन हूँ’ इस प्रश्न की खोज करते-करते, झूठा ‘मैं’ मिटने लगता है और ‘मैं ब्रह्म हूँ’ यह अनुभव भीतर प्रकट होने लगता है। हर ओर केवल ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है ऐसा ज्ञानबोध होता है। एक अनिर्वचनीय, गहन शांति और संतोष की अनुभूति होती है।)

जो साधक स्वयं की खोज करता है वही सद्गुरु-कृपा का वास्तविक अर्थ समझ पाता है, और अंततः आत्मतत्त्व का अनुभव स्वयं के भीतर जागृत होता है। जो साधक

सद्गुरु के वचनों को अपने हृदय में दृढ़ता से धारण करता है वही मोक्ष का अधिकारी, पुरुषोत्तम बनता है। और वह सद्गुरु द्वारा कहे गए वचनों का श्रवण, मनन और चिंतन गहन श्रद्धा और आदर से बार-बार करता रहता है।

“सद्गुरुवचन हृदयीं धरी । तोचि मोक्षाचा अधिकारी ।
श्रवण मनन केलेंचि करी । अत्यादरें ॥”

(अर्थात : जो साधक सद्गुरु के वचनों को हृदय में दृढ़ता से धारण करता है वही मोक्ष का अधिकारी बनता है। वह इन वचनों का श्रवण, मनन और चिंतन अत्यंत श्रद्धा और आदर से करता है।)

वरिष्ठ गुरुबंधु गुरुदास श्रीकांत गोगटे जी, इस स्वरूपवाणी की महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं...

“तव दीप्तज्ञान वाणी, शिरतां सुभक्त श्रवणी ।उजळे प्रकाश नयनी, तूं थोर
ज्ञानदाता ।”ज्ञानगंध पसरे जगती, तोषवी जना ।”

(अर्थात : जब तुम्हारी तेजस्वी ज्ञानवाणी भक्त के श्रवण में प्रवेश करती है, तो उसकी दृष्टि में प्रकाश फैल जाता है,, हे महान ज्ञानदाता, तुम ही वह दिव्य स्रोत हो। तुम्हारे ज्ञान की सुगंध समस्त जगत में फैलती है, और जन-जन को संतोष और शांति प्रदान करती है।)

जो स्वरूपवाणी समस्त विश्व को आनंद प्रदान करती है, उसकी कीर्ति बिना किसी विलंब के चारों दिशाओं में गूंजने लगी। देश-विदेश के अनेक जिज्ञासु और अंतिम सत्य के साधक श्रीमहाराज की ओर सहज ही आकर्षित होने लगे। उन्हीं में से एक थे मॉरिस फ्रिडमन जो रमणाश्रम से वनमाली भूवन होते हुए निसर्गदत्त आश्रम पहुँचे। वहाँ वे श्रीमहाराज के सान्निध्य में रम गए, विश्रान्ति पाई। उनके बीच विलक्षण ज्ञान चर्चाएँ हुई – आत्मा, ब्रह्म और अंतिम सत्य पर गहन संवाद। इन सुखद वार्तालापों का ध्वनिमुद्रण हुआ, और सन् 1973 में ‘I AM THAT’ नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ अनेक पाश्चात्य भाषाओं में अनुवादित हुआ और निसर्गदत्त महाराज की अमृतमयी स्वरूपवाणी का प्रचार-प्रसार पश्चिमी देशों में अत्यंत तीव्र गति से फैल गया। पश्चिम के अनेक जिज्ञासु, साधक और सत्य के खोजी सहज ही श्रीमहाराज की

ओर खिंचे चले आए। स्वरूपवाणी की विजयपताका सात समंदर पार भी अविरत फहराने लगी – जैसे आत्मज्ञान की दिव्य गूंज समस्त जगत में फैल गई हो।

“सद्गुरु ज्ञानप्रकाश थोर !” झाले बहु होतीलही बहु परंतु यासम हा !
(अर्थात : “सद्गुरु का ज्ञानप्रकाश अत्यंत महान है! अनेक हुए हैं, और आगे भी अनेक होंगे — परंतु ऐसा अद्वितीय, ऐसा अनुपम सद्गुरु दुर्लभ ही होता है।)

श्रीनिसर्गदत्त महाराज की यह वाणी जैसे आत्मज्ञान की अमृत-बूँद है, जहाँ संपूर्ण अध्यात्म का सार एक ही वाक्य में समाहित है। तेरे आत्मज्ञान से अलग कोई दूसरा देव, ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा या गुरु नहीं है। अपने ‘स्व’ को जानो और उसी में स्थिर हो जाओ।

सद्गुरु श्री निसर्गदत्त महाराज की यह अत्यंत सुंदर और तेजस्वी स्वरूपवाणी, आज के अस्थिर वातावरण में सभी जनों के लिए निश्चित ही एक प्रकाश की किरण बनकर उभरेगी। जब भीतर ‘स्व’ का बोध गहराई से अंकित होता है, तो सारी बेचैनी, व्याकुलता सहज ही दूर हो जाती है। जीवन के हर स्तर पर अंतिम सत्य की खोज करने वाला प्रज्ञावान साधक पूर्ण रूप से ‘स्वस्थ’ हो जाता है और यही अनुभूति उसे ‘शांति से अनंत की ओर’ ले जाती है।

निस्संदेह, यही है – सत्य, सुंदर और मंगल की निरंतर आराधना!!

– शांतिदास. मोबाईल: ९९६९००४२०४
 Email : shantidas1015@gmail.com



खोया हुआ अवसर

महेंद्र टेवर एक स्पैनिश यात्री था। एक दिन उसकी भेंट गणेशपुरी-वज्रेश्वरी क्षेत्र में श्री मुक्तानंद स्वामी के एक शिष्य से हुई। संयोग से वह शिष्य भी मूलतः स्पेन का ही निवासी था। दोनों के बीच आत्मीय मित्रता हो गई। मुक्तानंद स्वामी के एक शिष्य ने टेवर को *I Am That* पढ़ने के लिए दिया। उसका कारण यह था कि वह पहले निसर्गदत्त महाराज के आश्रम में जाया करता था। लेकिन एक बार उसने महाराज से बहुत तीखे और अहंकारपूर्ण ढंग से वाद-विवाद कर लिया। उसके इस व्यवहार से महाराज अप्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आश्रम से बाहर कर दिया। उस घटना के कारण उसे निसर्गदत्त महाराज के आश्रम में लौटने में बहुत संकोच और शर्म महसूस होती थी। फिर भी, एक दिन दोनों मित्र निसर्गदत्त आश्रम पहुँचे। और उस दिन की अनुभूति को टेवर इस प्रकार वर्णन करता है...

आश्रम में महाराज शिष्यों और जिज्ञासुओं के बीच विराजमान थे। उस भीड़ के बीच से रास्ता बनाते हुए, मैं अपने मित्र के पीछे-पीछे भीतर गया। महाराज के समक्ष खड़े होकर, हम दोनों ने उनके चरणों को स्पर्श कर विनम्रतापूर्वक वंदन किया। मेरा मित्र थोड़ा संकोच और भय के भाव में था। फिर भी, उसने दुभाषिण की सहायता से मेरा परिचय महाराज को कराया। महाराज ने मेरी ओर देखा और शांत स्वर में पूछा, “तुम कहाँ से आए हो?” मैंने महाराज से अपने मित्र के पूर्व दुर्व्यवहार का विषय विनम्रता

से उठाने का संकल्प किया। मैंने कहा, “यह मेरे मिला ही हैं जिन्होंने मुझे आपके चरणों तक पहुँचाया है। वह आपको अपना गुरु मानते हैं, और अपने पहले के व्यवहार पर उन्हें गहरा पश्चाताप है। मैं आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप उन्हें उनकी उस भूल के लिए क्षमा करें।” यह बात सुनते ही तुरंत महाराज के चेहरे के भाव बदल गए। उनकी दृष्टि में एक कोमलता और स्वीकार का प्रकाश झलकने लगा। उन्होंने धीरे से सिर हिलाया।

मैंने आगे कहा, “जब मैं आपकी आध्यात्मिक शिक्षाएँ पढ़ता हूँ, तो ऐसा अनुभव होता है मानो मैं स्वयं रमण महर्षि की वाणी पढ़ रहा हूँ। उन शब्दों को पढ़ते-पढ़ते मेरे भीतर भावसमाधि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मुझे ऐसा लगता है कि परमेश्वर ने ही मुझे यहाँ लाकर आपके दर्शन का सौभाग्य प्रदान किया है यह मेरे जीवन का एक महान पुण्य है।”

महाराज मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे थे। उन्होंने कहा, “मुझे एक बड़ी ‘मछली’ मिल गयी है। अगर तुम मेरे सान्निध्य में पंद्रह दिन रहोगे, तो तुम्हें सब कुछ समझ में आ जाएगा और तुम्हें अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होगा।” यह सुनते ही उस कक्ष में एक गहरी शांति फैल गई। फिर महाराज ने सबकी ओर देख कर कहा, “तुम दोपहर में आना और मुझसे मिलना। उस समय मुझे कोई और नहीं चाहिए।”

उस दिन दोपहर चार बजे, हम दोनों मिल मुंबई के एक कम प्रसिद्ध रेस्टॉरेंट में पहुँचे। वहाँ एक विदेशी पोशाक में सज्ज व्यक्ति हमें भीतर के एक कक्ष में ले गया। उस कमरे के मध्य में एक चटाई पर महाराज ध्यानमग्न अवस्था में विराजमान थे। पूरा वातावरण एक विशेष ऊर्जा से भरा हुआ था। हमने उनके चरणों को स्पर्श कर विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया। महाराज ने धीरे से आँखें खोलीं और हमारी ओर देखा। उन्होंने एक शिष्य से कहा कि वह मोमबत्ती जलाए। फिर तालियों की गूज के साथ “जयगुरु जयगुरु” का घोष होने लगा। दीवारों पर लगे चित्रों के सामने आरती उतारी गई। महाराज की दृष्टि मेरे ऊपर ही स्थिर थी। जैसे ही आरती की थाली मेरे सामने आई, मैंने दोनों हाथों से उसे श्रद्धापूर्वक थामा। फिर अपने गालों और सिर पर हाथ फेरते ही मेरे भीतर एक गहरी शुद्धता का अनुभव जागृत हुआ।

“कल से तुम्हें यहाँ पंद्रह दिन तक आना है। तुम्हारी आत्मजागृति के लिए मेरे साथ यह समय पर्याप्त है,” महाराज ने अपने स्थिर और तेजस्वी स्वर में कहा। “लेकिन महाराज, कल सुबह मुझे बार्सिलोना के लिए हवाई जहाज लेना है...” मैंने भारी मन से कहा।

इतना कहते ही वहाँ एक गहरा सन्नाटा छा गया। मुझे भीतर से बहुत दुःख हो रहा था किस्मत ने जो एक अनमोल अवसर दिया था, वह मेरे हाथ से फिसलता जा रहा था।

“तो फिर आगे कभी देखेंगे,” महाराज ने धीरे से कहा जैसे उनकी वाणी में कोई मौन स्वीकार था, और समय ने अपना निर्णय सुन

लेकिन वह अवसर फिर कभी लौटा ही नहीं। दो वर्ष बाद महाराज ने देह त्याग दिया। अब हमारी कभी भी भेंट नहीं हो सकती थी।

English Translation: Antonio Plana
Tevar, M. y Martín, J. Levántate y rugé [Stand up and roar].
Sirio Publisher, 2015 (Málaga) Spain



ईश्वर को देखना ईश्वर बनना है। वह केवल एक ही है। जब हम भगवान को देखते हैं, तो हम भगवान के बारे में सोचते हैं या नहीं? हर जगह भगवान को देखने के लिए, आपको निश्चित रूप से भगवान के बारे में सोचना चाहिए। अगर हम सब कुछ देखते हैं, तो उस भगवान को क्यों नहीं देखते हैं? वास्तव में, हर कोई हमेशा भगवान को देखता है! लेकिन वे इसे महसूस नहीं करते हैं। पता करें कि भगवान कौन है।

– भगवान श्री रमण महर्षि

निर्भयता का खज़ाना

गुरु पूर्णिमा के पावन अवसर पर, दिनांक 10 जुलाई 2025 को, 'निसर्गवाणी' के प्रथम डिजिटल अंक का लोकार्पण एक सुंदर श्रव्य-दृश्य समारोह के माध्यम से संपन्न हुआ। इस शुभ आयोजन में दो पूज्य अतिथियों की दिव्य उपस्थिति रही — पूज्य श्री योगेशबुवा रामदासी, सचिव, सज्जनगड श्री समर्थ सेवा मंडल, तथा श्री सद्गुरु साटम महाराज (सहजदत्त महाराज)। दोनों महानुभावों ने अपने आशीर्वचन प्रदान किए और पत्रिका को और अधिक समृद्ध बनाने हेतु मूल्यवान सुझाव भी दिए।

एक महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि श्री निसर्गदत्त महाराज की शिक्षाओं पर आधारित उन छोटे पुस्तिकाओं की अमूल्य ज्ञान-संपदा को पुनर्जीवित किया जाए, जो दशकों पूर्व प्रकाशित हुई थीं और आज दुर्लभ व कठिनता से प्राप्त होती हैं। उन्होंने कहा, इन पुस्तिकाओं को पत्रिका में सम्मिलित करना, आज के साधकों के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध होगा। उदाहरणस्वरूप उन्होंने 'निर्भयतेचे भांडार' (निर्भयता का खज़ाना) नामक पुस्तिका का उल्लेख किया।

यह पुस्तिका, जो वर्ष 1967 में स्वर्गीय मच्छिंद्रनाथ हाटे (जो अध्यात्म केंद्र के वरिष्ठ शिष्य और बाद में पदाधिकारी भी रहे) द्वारा संकलित की गई थी— इस परंपरा के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखती है। श्री भाईनाथ महाराज ने एक बार हाटे साहब को एक समर्पित श्रोता बताया था, जो प्रवचनों के दौरान महाराज के वचनों को अत्यंत श्रद्धा और सावधानी से लिपिबद्ध करते थे। मैंने भी यह पुस्तिका कई वर्ष पूर्व पढ़ी थी, और उसमें से कुछ पंक्तियाँ जो मेरे हृदय को गहराई से स्पर्श कर गई थीं, उन्हें मैंने अपनी डायरी में संजो कर रखा था। आज इस शुभ अवसर पर, मैं उन ज्ञान के मोतियों को पाठकों के साथ साझा करना चाहता हूँ।

श्री निसर्गदत्त महाराज ने निर्भयता के विषय पर न केवल उन दिनों में, बल्कि अपने जीवन के अनेक प्रवचनों में विस्तार से प्रकाश डाला। हर बार उन्होंने इसकी आत्मा को अपनी विशिष्ट सरलता और स्पष्टता के साथ उजागर किया। हाटे साहब द्वारा संकलित सामग्री की ओर बढ़ने से पहले, आइए हम महाराज की शिक्षाओं में निहित इस विषय की भावना को एक दृष्टि से अनुभव करें।

भय किसी को नहीं छोड़ता। ऐसा कोई दिन नहीं होता जो चिंता या भय की किसी न किसी छाया के बिना उगता और ढलता हो। कुछ समय के लिए यह अनुपस्थित प्रतीत हो सकता है, पर जैसे ही परिस्थितियाँ बदलती हैं—वह फिर से सामने आ जाता है। कोई विष क्यों नहीं लेता? क्योंकि उसे मृत्यु का भय होता है। कोई दूसरा विष क्यों लेता है? क्योंकि उसे जीवन का भय होता है। जो आप वास्तव में हैं, वह आकाश की तरह व्यापक और असीम है—'नभ' की तरह। 'न-भ' का अर्थ है—'भय नहीं'। जिस प्रकार आकाश को कोई भय नहीं होता, उसी प्रकार अपने अस्तित्व का सच्चा ज्ञान भी भय से परे होता है।

जो भय आप अनुभव करते हैं, वह आपके 'अस्तित्व की स्मृति' से जुड़ा होता है। सुख-दुख, लाभ-हानि के अनुभव 'मैं हूँ' की चेतना से उत्पन्न होते हैं। यह अस्तित्व की स्मृति शरीर से तादात्म्य किए बिना कैसे प्रकट होती है—यही एक गूढ़ प्रश्न है।

मृत्यु' तो केवल एक पारंपरिक शब्द है। जीवन का अंत वास्तव में आनंद का खज़ाना है। जो देह से जुड़ा हुआ है, उसके लिए जीवन का अंत सुख का अंत प्रतीत होता है। परंतु यदि मृत्यु के क्षण में केवल इतना कह दिया जाए—'मैं शुद्ध प्रकाश हूँ', तो मुक्ति संभव है। जो समय भयावह प्रतीत होता है, वही गुरु-भक्ति के माध्यम से शांति का क्षण बन जाता है। ऐसी है गुरु-भक्ति की महान शक्ति। इस संसार में मृत्यु के अतिरिक्त वास्तव में क्या प्राप्त होता है? विडंबना यह है कि जहाँ मृत्यु का भय मंडराता है, वहीं आनंद का महासागर भी छिपा होता है। जिसका मन मृत्यु की कल्पना मात्र से कांप उठता है, उसने अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान अभी नहीं पाया है। भय होता है साँप का। पर वास्तव में वहाँ कोई साँप नहीं होता—वह तो केवल एक रस्सी होती है! भय का कारण क्या है? ... अज्ञान। जब यह ज्ञात हो जाता है कि वहाँ साँप नहीं है, तो भय स्वतः समाप्त हो जाता है। अज्ञान ही भय को जन्म देता है—जैसे रस्सी को साँप समझ लेना। जब सत्य का ज्ञान हो जाता है, तो भय विलीन हो जाता है। कुछ करने की

आवश्यकता नहीं है। मृत्यु का भय केवल एक कल्पना है। यह भीतर से उत्पन्न होता है और बाहर अपनी छाया डालता है। घड़ी क्या है? ...समय! समय का भय स्मृति से जुड़ा है—‘मैं हूँ’ की चेतना से। परंतु वही आपका सच्चा स्वरूप नहीं है!

जब तक देह से अपनी पहचान बनी रहती है, तब तक हर प्रकार का भय बना रहेगा—मृत्यु का भय, पाप-पुण्य का भय, और समय का भी भय। लेकिन जब यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान ही आपका स्वभाव है, तब कोई भी भय—चाहे पाप का हो, पुण्य का हो या मृत्यु का—आपको बाँध नहीं सकता।

जैसा कि संत ज्ञानेश्वर ने अत्यंत सुंदर रूप से कहा है...

“जैसे ही पानी नमक को डुबोने आता है, नमक स्वयं ही घुलकर पानी बन जाता है। फिर पानी किसे डुबोएगा?

उसी तरह, जब तुम अद्वैत में एकाकार हो जाते हो, तो भय को डराने के लिए कोई शेष नहीं रहता।”

पुस्तिका ‘निर्भयता का खज़ाना’ से महाराज के वे वचन, जो मेरे मन में गहराई से उतर गए, ये हैं:

मन स्वभाव से चंचल है, वह सहज रूप से शांत नहीं रहता। लेकिन विविध उपायों से जब उसका बार-बार स्मरण किया जाता है तो वह धीरे-धीरे शांत होने लगता है। अन्य किसी उपाय से यह शांति नहीं आती। संतजन नाम और मंत्र की शक्ति से मन को स्थिर करते हैं, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है। जब यह अभ्यास जीवन का हिस्सा बन जाता है, तब यह दृढ़ विश्वास जन्म लेता है कि ज्ञान ही आत्मा है। और तब मन स्वयं समर्पित हो जाता है। इसके लिए सांसारिक जीवन को त्यागना या नष्ट करना आवश्यक नहीं है। सांसारिकता और आध्यात्मिकता में कोई विरोध नहीं है। केवल अज्ञानियों ने त्याग का उपदेश देकर लोगों को आध्यात्मिक मार्ग से डरा दिया है। परंतु सत्य तो यह है कि सांसारिक जीवन आध्यात्मिकता को सहारा देता है—वह बाधा नहीं बनता!

भय मन और आँखों के माध्यम से हृदय में प्रवेश करता है, और कभी-कभी अपनी छाया आत्मा पर भी डाल देता है। लेकिन जब यह अनुभव होता है कि हर आरंभ से पहले भी, हमारा सच्चा स्वरूप परमात्मा ही है—तो भय की पकड़ ढीली पड़

जाती है। क्योंकि जो वास्तव में आप हैं, वही आपको डर नहीं सकता। भय तो केवल 'दूसरे' का होता है। सिंह को अपने ही अयाल और जबड़ों से भय नहीं होता—डर तो दूसरों को लगता है! जब यह समझ आता है कि भय तो हमारी ही कल्पना है, तब भीतर एक गहरी मुक्ति का अनुभव होता है। ऐसा दृढ़ विश्वास केवल सद्गुरु की कृपा से ही जागृत होता है। जो व्यक्ति भयभीत भी हो, यदि वह गुरु के वचनों के अनुसार जीवन जीने लगे, तो धीरे-धीरे उसके भीतर साहस प्रकट होने लगता है। उस संकल्प की ज्योति हर भय को तितर-बितर कर देती है। ऐसी है गुरुवचन की शक्ति!

– अनिल चुबे, ठाणे. मोबाईल: ९८१९२१४६६१



भगवान कौन है और वह कैसा दिखता है?" इस सवाल पूछने वाला ज्ञानहि खुद ईश्वर है! आप सामान्य रूप से अदृश्य शक्ति जिसे ईश्वर माना जाता है वह ज्ञानहि ईश्वर है। ईश्वर हमारा स्वरूप है ... स्व !!

– श्री निसर्गदत्त महाराज

पतंजलि का अष्टांग योग और निसर्गदत्त महाराज का स्वरूपज्ञान योग

अष्टांग योग का अर्थ है योग के आठ पवित्र अंग। यह योग की वह दिव्य प्रणाली है जिसे भारत के महान ऋषि पतंजलि ने अपने योगसूत्रों में विस्तार से बताया है। योग के आठ पवित्र अंगों की व्याख्या इस प्रकार की गई है – यम (संयम), नियम (आत्मनिरीक्षण), आसन (शरीर की स्थिरता), प्राणायाम (श्वास का नियंत्रण), प्रत्याहार (इंद्रियों को भीतर की ओर मोड़ना), धारणा (एकाग्रता), ध्यान (अंतरमुखी साधना) और समाधि (परमात्मा में पूर्ण अवशोषण) और कहा गया है कि योग की प्राप्ति के लिए इन आठ अंगों की साधना आवश्यक और अनिवार्य है। इस शास्त्र के सूत्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें 'पाद' कहा गया है। पहला है समाधिपाद, दूसरा साधनपाद, तीसरा विभूतीपाद और चौथा कैवल्यपाद। इस गूढ़ विषय पर न केवल भारत के, बल्कि विश्वभर के विद्वानों ने गहन अध्ययन किया है। उन्होंने योग के इस दिव्य मार्ग को समझने का प्रयास किया और अपने अनुभव व आकलन को विभिन्न ग्रंथों और पुस्तकों के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया ताकि यह ज्ञान अधिक से अधिक आत्माओं तक पहुँचे और उन्हें भीतर की यात्रा में मार्गदर्शन मिले।

इस अध्ययन से एक मुख्य बात स्पष्ट होती है कि मानव जीवन में योगसूत्रों का

अत्यंत गहरा महत्व है। इन योगसूत्रों में मन को एकाग्र करके उसे परमात्मा में विलीन करने का मार्ग बताया गया है। ऋषि पतंजलि के अनुसार, योग का अर्थ है मन की चंचल प्रवृत्तियों को रोकना (चित्तवृत्ति निरोधः)। अर्थात् मन को इधर-उधर भटकने न देना, बल्कि उसे एक ही लक्ष्य में स्थिर रखना ही सच्चा योग है। योगसूत्र अपने गूढ़ और दिव्य ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं। इस लेख में हम उन सूत्रों पर विचार करेंगे जो विषय की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होते हैं

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पतंजलि का योगदर्शन मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित है। समाधिपाद में योग के उद्देश्य, उसके लक्षण और साधना का मार्ग बताया गया है। साधनपाद में जीवन की कठिनाइयों, कर्म के फल और उसके प्रभावों पर चर्चा की गई है। विभूतिपाद में योग के विभिन्न अंगों, उनके परिणामों और साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। और अंत में कैवल्यपाद में हिंदू दर्शन के अनुसार कैवल्य अर्थात् मोक्ष की गूढ़ चर्चा की गई है। संक्षेप में कहा जाए तो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के दुःख हैं। योगतत्त्वज्ञान के अनुसार, इन दुःखों के कारण मनुष्य को अपने कर्मों के फलस्वरूप जन्म लेना पड़ता है और जीवन की यात्रा पूरी करनी होती है। इन सभी बंधनों से मुक्त होने और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग ऋषि पतंजलि ने योग के रूप में बताया है। उन्होंने कहा है कि यदि योग के अंगों की क्रमशः साधना की जाए, तो मनुष्य धीरे-धीरे परिपूर्णता की ओर बढ़ता है और अंततः मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करता है।

आज योग का प्रसार पूरे विश्व में हो चुका है। इसका मुख्य कारण यह है कि लोगों को यह अनुभव हुआ है कि योगाभ्यास स्वास्थ्य के लिए और मन की शांति के लिए अत्यंत सहायक है। 21वीं शताब्दी में अंतरराष्ट्रीय योग दिवस के रूप में भी इसके महत्व को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। जैसा कहा जाता है Sound mind in sound body – “स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है।” विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि अनेक रोगों की जड़ मानसिक होती है। इसका अर्थ यह है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ इनके अतिरिक्त जो ‘ग्यारहवीं इंद्रिय’ है, वह है मन, और यही मन मानव जीवन में सबसे अधिक उथल-पुथल मचाता है। समर्थ रामदास स्वामी ने अपने 205 ‘मनाचे श्लोक’ के माध्यम से विस्तार से बताया है कि मन को स्वाधीन कैसे रखा जाए, उसे कैसे अनुशासित किया जाए, और जीवन में शांति व स्थिरता कैसे लाई जाए। कोकण क्षेत्र के वेगुर्ले में निवास कर चुके संत पूर्णदास जी ने अपने ग्रंथों में मन की अद्भुत शक्ति का सुंदर वर्णन किया है जैसे की :

‘मना ऐसा नाही शलू । मना ऐसा नाही मलू ।
 मनची पवललापवलू । कल्पलतसे ॥
 मनची भयंकरा भयंकर । मनची सुखकरा सुखकर ।
 मन कल्पलत संसार । वाढतसे ।
 मन तपस्वीयांते छळी । मन संसारीकाते गलळी ।
 मना ऐसा महाबळी । दुसरा नसे ॥’

अर्थात : मन जैसा न कोई शलू है, और मन जैसा न कोई मलू । यह मन ही है जो पवलू भी है और अपवलू भी.. .जैसा हम कल्पना करें वैसा बन जाता है । मन अत्यंत भयंकर भी हो सकता है, और अत्यंत सुखदायक भी । यह मन ही है जो एक कल्पलत संसार रचता है और उसे नलरंतर बढ़ाता रहता है । मन तपस्वियों को भी छल सकता है, और सांसारिक जनों को नलगल भी सकता है । ऐसा यह मन महाबली है – इसके समान दूसरा कोई नहीं ।

1. समाधिपाद :

योगसूत्र संख्या 2 — योगश्छित्तवृत्तिनिरोधः ।

इस सूत्र में योग की पहली परिभाषा दी गई है — कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है । सामान्य रूप से चित्त को हम ‘मन’ भी कहते हैं । इसलिए योग साधना का अर्थ है — सबसे पहले मन को अपने वश में लाना सीखना । और यही योग सीखने की वास्तविक शुरुआत मानी जाती है ।

योग सूत्र संख्या 5 वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

योग सूत्र संख्या 6 प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।

योग सूत्र संख्या 12 अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः

योग सूत्र संख्या 14 स तु दीर्घकालनैरन्तर्यं सत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

2. साधनपादः

योग सूत्र संख्या 29 यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

योग सूत्र संख्या 46 स्थिरसुखमासनम् ।

योगाभ्यास का मुख्य अभ्यास ध्यान, धारणा और समाधि है । प्राणायाम के

अभ्यास से यह साधना सहज और सरल हो जाती है। इस अभ्यास के दौरान आसन या बैठने की स्थिति ऐसी होनी चाहिए जो सुखद हो, जिसमें शरीर बिना थकान या पीड़ा के लंबे समय तक टिक सके। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जो निरंतर बाह्य जगत की ओर दौड़ती रहती हैं, उन्हें अपने चित्त की ओर मोड़ना और उन पर नियंत्रण पाकर उन्हें अंतर की ओर ले जाना — इसी को 'प्रत्याहार' कहा जाता है। लेकिन इससे पहले शरीर की शुद्धि आवश्यक है। अष्टांग योग में इसके लिए कुछ अनुशासन अपनाने की बात कही गई है, जिन्हें 'यम' और 'नियम' कहा जाता है। 'यम' का अर्थ है नैतिक संयम यानी वे बातें जिन्हें नहीं करना चाहिए। और 'नियम' का अर्थ है कुछ आवश्यक बातों का ध्यान रखकर उन्हें नियमित रूप से निभाना।

मन की चंचलता पर नियंत्रण पाना यही इस सूत्र का मूल संदेश है। मन की स्वभावगत वृत्तियों को रोकने का अभ्यास इसमें विशेष रूप से बताया गया है। इन वृत्तियों के कितने प्रकार हैं, उनका क्या वर्गीकरण है, उनका प्रभाव कैसे कम किया जा सकता है, यह अभ्यास किस विधि से करना चाहिए, कितने समय तक करना चाहिए, और उसका प्रत्यक्ष परिणाम क्या होता है — इन सभी बातों के लिए योगसूत्रों में जिज्ञासुओं को मार्गदर्शन दिया गया है। इस अभ्यास से मन की वृत्तियों में परिवर्तन आता है। योगाभ्यास गहराता है और साधक वैराग्ययुक्त बनता है। अंततः धारणा अर्थात् मन को एक ही स्थान पर स्थिर रखना, ध्यान और समाधि — इन अंतरंग साधनों के माध्यम से साधक कैवल्य-मुक्ति का अधिकारी बनता है। योगसूत्रों में यही बताया गया है — कि यह मार्ग केवल अभ्यास नहीं, बल्कि आत्मा की मुक्ति की ओर एक दिव्य यात्रा है।

निसर्गदत्त महाराज, वर्तमान समय में प्रकट हुए एक महान स्वरूपज्ञानी संत थे। वे अपनी सहज और प्राकृतिक भाषा शैली में साधकों को आध्यात्मिक दिशा में आवश्यक मार्गदर्शन देते थे। जैसे योगसूत्रों में संस्कृत में सूत्ररूप में योगसाधना का मार्ग बताया गया है, वैसे ही महाराज की सहज भाषा में व्यक्त उनके सूत्र भी जिज्ञासुओं को कैवल्यमुक्ति की ओर निश्चित रूप से ले जा सकते हैं — ऐसा प्रतीत होता है। लेख की सीमा और विषय की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए, योग सूत्रों में आए कुछ प्रमुख बिंदुओं को यहाँ सम्मिलित करना आवश्यक है। महाराज योग की व्याख्या किस प्रकार करते हैं, और मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" कैसे साधा जा सकता है यह वे आगे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

योग का अर्थ है मिलन। जिसका नित्य सहवास आत्मस्वरूप से होता है, वही

सच्चा योगी है। अब “योगस्थिति” शब्द को समझिए। स्थिति का अर्थ है ऐसी अवस्था जिसमें कोई और परिवर्तन, आना-जाना नहीं होता। उस परम स्थिति से मिलन ही योग है। जब आपको यह बोध होता है कि “मैं हूँ”, तो उसी बोध को थामे रहना चाहिए। उसका नाम है ध्यान। और वही ध्यान, योग है। ध्यानयोग का अर्थ है अपने होने के ज्ञान में स्थिर रहना। वास्तव में जन्म कभी हुआ ही नहीं। यह समझने के लिए कि जन्म नहीं हुआ — क्यों नहीं हुआ, कैसे नहीं हुआ ध्यानयोग का अभ्यास करें। जब स्मरण और प्राण का संयोग होता है, तभी सच्चा ज्ञान प्रकट होता है। यह योग नामस्मरण से होता है। लेकिन नामस्मरण ज़रूरत और प्रेम से करना होता है। प्रेम से ही नामस्मरण सहज होता है। लोग अनेक विधियों से नामस्मरण करते हैं, जैसे उन्हें किसी ने बताया हो। हमारे अनुभव के अनुसार, यदि श्वास के साथ नामस्मरण किया जाए, तो मन शांत होता है और समाधि की अवस्था आती है। नामस्मरण को प्रेरणा दें, और अपना मन, बुद्धि, चित्त एकत्र कर शांत भाव से स्थित रहें यही योग बताया गया है। “मेरा स्वरूप मैं स्वयं हूँ” कि जब खोज होती है और जब इस चिंतन में निरंतर स्थित रहा जाता है तब योग पूर्ण होता है। वह योग स्वयं को प्राप्त होता है। अनुभव के अनुभव से, अनुभव परिपूर्ण होता है। जब तक प्राण और काया का संयोग है, तब तक ज्ञानगुण बना रहता है।

योग में महायोग है ... आत्मबोध। अष्टांगयोग का अभ्यास कठिन है। कई साधक उसी मार्ग में जीवन गंवा देते हैं। यदि योग्य गुरु मिल जाए, तो जीवित रहते हुए प्राण का संचार करने की विद्या साधक निभा सकता है। परंतु उस मार्ग में अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। फिर साधक को मान-सम्मान मिलता है। वह सेवा करता है, स्रेहपूर्वक कार्य करता है, और उसी में लीन हो जाता है। लेकिन इस रमण में वह परब्रह्मस्वरूप से मिलने की पात्रता नहीं प्राप्त करता। ध्यानयोग के अभ्यास से आत्म से जो वियोग हुआ है वह योगी बनकर मिटता है। आगे चलकर वह नियोगी बनता है। निर्वाण, निर्गुण, निरंजन ... ये सब नाम उसी अवस्था को दिए गए हैं जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता उसे ही निर्वाण कहा जाता है। जिसे यह ज्ञान हो जाए कि “मैं सबसे अलग हूँ” उसी अनुभव को निर्वाण कहते हैं।

वैराग्य क्या है? — जो सहवास में नहीं टिकता, जो किसी वस्तु या संबंध से बंधा नहीं रहता, वही वैराग्य है। नग्न होकर भीख माँगना वैराग्य नहीं है। वैराग्य उस व्यक्ति को होता है जिसे यह बोध हो जाए कि यह सब शरीर,

संबंध, वस्तुएँ एक दिन नष्ट हो जाने वाली हैं। जिसके भीतर यह गहराई से उतर जाए, वही सच्चा वैरागी है। विकार ये अन्न के गुणधर्म हैं। जैसा अन्न, वैसा मन। मन उसी दिशा में बहता है, जैसा उसका पोषण होता है यह बात ध्यान में रखें। और जब मन अपने 'मन' को भूलकर शांत हो जाता है वही उन्नत अवस्था है.. भूलना यही मन का स्वभाव है।

आचरण या व्यवहार यानी हमारी वृत्ति। अहिंसा का सच्चा अर्थ है किसी के हृदय को चोट न पहुँचे। यदि वर्तमान वृत्ति में परिवर्तन लाना है, तो अहिंसा, सत्य जैसे धर्मों का आचरण करना चाहिए। इनका अभ्यास धीरे-धीरे हमारे आचरण को बदलता है। जो प्राणस्वरूप में प्रवाहित होती है वही वृत्ति है। वाणी के शब्द चित्त में उतरते हैं, और जब वे भीतर से पुनः ऊपर आते हैं वही हमारे विचार बनते हैं। प्राण के बिना मन अलग नहीं है। प्राण ही 'प्रणव' है.. ओंकार। मन यानी वृत्ति। वृत्तियाँ भी प्राणस्वरूप से ही बहती हैं। मन ही प्राण है। मन के रूप में प्राण प्रवाहित होता है। मन यानी भाषा की धारा। साधना यह वृत्ति को दिया गया अभ्यास है।

विचारों से ही नए विचार जन्म लेते हैं। पर इनमें से कौन-सा अपनाना है यह काम विवेक करता है। विवेक एक छाननी की तरह है, जो शब्दों को छानकर सार बचा लेता है। आपको आठों पहर विश्राम का अवसर नहीं मिलता। विचारों के पीछे विचार चलते रहते हैं, और उनके अनुसार ही हमारी वाणी, व्यवहार, और कर्म प्रवाहित होते हैं। इस पर ध्यान दीजिए। 'मन' का अर्थ है, जो विचार भीतर आते हैं। जैसे-जैसे विचार कुछ कहते हैं, वैसे ही हम बोलते हैं, सुनते हैं, और जीवन के सारे व्यवहार उसी के अनुसार चलते हैं। कुछ विचार ऐसे होते हैं जो केवल समय खा जाते हैं, जीवन की ऊर्जा को व्यर्थ करते हैं। ऐसे विचारों को तुरंत लौटा दीजिए। कोई विचार आया, फिर उसकी चर्चा, उसकी व्याख्या — ऐसे समय पर 'रिसीवर' नीचे रख दीजिए। जैसे बड़े लोग जब बात नहीं करनी होती, तो फोन का रिसीवर रख देते हैं — वैसे ही। जो विचार आत्मबुद्धि सिखाते हैं, पहचान कराते हैं उन्हीं से संगत कीजिए। बाकी विचारों को वापिस भेज दीजिए। अगर कोई यह बात समझ ले, तो क्या यह संभव नहीं है? क्योंकि जो विचार आते हैं, उन्हीं से तो सारा व्यवहार संचालित होता है। इसलिए विचारों की ओर सजग दृष्टि रखिए। दूसरों की निंदा, आलोचना जैसे विचारों को त्याग दीजिए। मन

के बिना जीना सीखिए।मन के अधीन मत बनिए।काम के लिए विचारों का उपयोग कीजिए, लेकिन जो विचार व्यर्थ हों उन्हें एक ओर रख दीजिए।

जहाँ हमारे पास कोई विचार नहीं होता वहीं शांति होती है।जो मन को एक ओर रखकर स्थिर रहता है वही जीवंत समाधि है।यह सहज अवस्था है।मन से रहित होना ही उत्तम अवस्था है।जो आत्मा मन से अलग है वह पवित्र है, निर्मल है।वह आकाश से भी अधिक स्वच्छ, सूक्ष्म और गहन है।मन की पहचान शरीर से होती है, आत्मा से नहीं। यह बात ध्यान में रखें।“देह ही मेरा रूप है” ऐसा मन कहता है। लेकिन आत्मा ऐसा नहीं कहता।आप मन के अनुसार नहीं हैं यह समझना आवश्यक है।मन जैसा कहता है, उसके अनुसार जीना यही अधोगति है।इस बात को स्मरण में रखें।यही जागरूकता यही परम भक्ति है।

जिस प्रकार गुरु शिष्य को उपदेश देता है, जिस प्रकार भगवान भक्त को मार्ग दिखाता है, उसी तरह, आप भी अपने मन को सिखाते चलें।मन और उसके गुण — ये सब व्यापार में लगे हुए हैं। जो सुना है, उसे ध्यान में रखें।लेकिन उस ध्यान में स्वयं को मत खो दें — क्योंकि वह भी मन का ही एक व्यापार है।आप मन नहीं हैं यह बात गहराई से समझें। नामस्मरण करते रहें। उससे मन की शुद्धि होती है। और जब मन शुद्ध होता है तो जो कुछ आप उसे कहेंगे, वह उसे सुनने लगेगा।

जो कुछ आपको सुनाया गया है वही भय, वही मुक्ति, वही बंधन है।केवल मन ने जिस रूप को समझा है वही बंधन है।जो कुछ दिखाई दे रहा है उसमें चेतना है। जो कुछ अनुभव में आ रहा है वह चेतना से ही उत्पन्न हुआ है।और यह चेतना जानने वाले से उत्पन्न होती है।जब इस व्यापक चेतना का साक्षात् ज्ञान हो जाता है तो मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

जब अहंभाव पूरी तरह अदृश्य हो जाता है तब पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है। आत्मा प्रतिदिन अपने सहज स्वभाव से मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ता है।विस्मरण के अंत में ही विश्रान्ति है।क्या भूलना है? — अहंभाव।और यदि वह स्वयं ही भूल जाए तभी सच्ची विश्रान्ति संभव है।तभी श्रम का अंत होता है।ज्ञान ही ध्यान है। ध्यान ही स्वयं है। और स्वयं ही विश्रान्ति है।सबसे पहले वृत्तियों को निवृत्त होना पड़ता है। तभी स्वरूप की प्राप्ति होती है।

मन, बुद्धि और शरीर इन सबके बंधनों में आत्मा नहीं है। और यह सत्य अभी भी वैसा ही है।

– अनिल चुबे, ठाणे. मोबाईल: ९८१९२१४६६१



अभ्यास नितांत आवश्यक है। आप हर दिन का घंटे बैठकर मेरी बात सुन सकते हैं, लेकिन यदि आप अभ्यास नहीं करते तो आप एक कदम आगे नहीं बढ़ पाएंगे। यह सब अभ्यास पर निर्भर करता है...!!!

– स्वामी विवेकानंद

योगी पावन मनाचा: श्री स्वामी स्वरूपानंद (पावस)



“योगी पावन मन के, वही अपराधियों का भी पालन करता है।” यह वर्णन संत मुक्ताबाई ने संत श्रेष्ठ ज्ञानेश्वर माऊली के लिए किया था। ज्ञानेश्वर माऊली के बाद, उसी दैवी गुणों से युक्त एक सत्पुरुष बीसवीं सदी में कोकण में सक्रिय थे। वही करुणा, वही क्षमाशीलता, वही दीन-दुबलों के प्रति संवेदना, जैसे कि फिर से ज्ञानेश्वर महाराज ही हों! यह महान सत्पुरुष पावस के स्वामी स्वरूपानंद थे। रत्नागिरी जिले के पावस नामक छोटे गाँव में वे हाल तक, अर्थात् सन् 1974 तक सक्रिय रहे।

पावस के गोडबोले परिवार में विष्णुपंत और रुक्मिणीबाई के यहाँ 15 दिसंबर 1903 को इस नर रत्न का जन्म हुआ। पालन-पोषण में उनका नाम रामचंद्र रखा गया, लेकिन सभी उन्हें आप्पा कहते थे। गोडबोले परिवार के संयुक्त वातावरण में आप्पा और उनके भाई-बहनों को पिता का प्रेम और मार्गदर्शन भरपूर मिला। दादा बच्चों को गीता के कुछ अध्याय और अन्य स्तोत्र याद कराते थे। पिता विष्णुपंत अत्यंत सरल और सीधे स्वभाव के गृहस्थ थे और हमेशा विष्णुसहस्रनाम का जाप उनके मुख में रहता था। ऐसे सात्विक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे चार-चौधों के समान सामान्य जीवन जीने वाले आप्पा उर्फ रामचंद्र गोडबोले, आगे चलकर **स्वामी स्वरूपानंद** के नाम से प्रसिद्ध हुए। नाथ संप्रदाय में वे अलीकड की पीढ़ी के थोर सत्पुरुष थे। रामचंद्र गोडबोले से स्वामी स्वरूपानंद तक का उनका जीवनप्रवास अत्यंत प्रेरणादायक है। जैसा संत तुलसीदास कहते हैं – “नर करनी करे तो नरका नारायण होत।” स्वामी के मामले में यह कथन शाब्दिक रूप से सत्य है। श्री स्वामी नर के नारायण बने।

पूर्व जीवन और सेवाभाव

श्री स्वामी पूर्वजन्मों में कोल्हापुर से रत्नागिरी यात्रा कर रहे थे। रास्ते में रेडे डोह पर बारिश के कारण बहुत पानी भर गया था और रत्नागिरी जाने वाली सर्विस मोटर मार्ग के दूसरी ओर थी। इसलिए डोह को पार करना आवश्यक था। स्वामी और सहयात्रियों ने नाव द्वारा डोह पार करने का निर्णय लिया। पानी के प्रवाह के कारण नाव झुकी और कीचड़ में फंस गई। स्वामी ने अपनी छड़ी की मदद से मार्ग साफ किया और डोह पार किया। यह सुनिश्चित करने के बाद कि यह मार्ग सुरक्षित है, उन्होंने हर यात्री को सुरक्षित किनारे पर पहुँचाया। उस दिन स्वामी के रूप में लोगों को देव का दर्शन हुआ। स्वामी में निश्चित ही दिव्यता थी, जो उनके आगे के जीवन में सिद्ध हुई।

स्वतंत्रता सैनिक और देशभक्त

योगी अरविंद की तरह, श्री स्वामी भी पूर्व जीवन में स्वतंत्रता सैनिक थे। वे बाल गंगाधर टिळक के भक्त थे। टिळक के बाद स्वतंत्रता संग्राम की जिम्मेदारी महात्मा गांधी के हाथों में आई। अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए स्वामी ने स्वतंत्रता का संघर्ष किया। उन्होंने शिरोड्य के नमक सत्याग्रह में भाग लिया और रत्नागिरी क्षेत्र में गावों में व्याख्यान देकर देशभक्ति जागृत की। उन्होंने अपने छोटे गांव में स्वावलंबन आश्रम के नाम से राष्ट्रीय विद्यालय खोला। ग्रामीण इलाकों में दुर्लभ अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था

भी की। शिक्षा मुफ्त थी, लेकिन पुस्तकें स्वामी खुद उपलब्ध कराते थे। पावस में उन्होंने व्यायामशाला भी शुरू की।

गुरुकृपा और साधना

स्वामी ने 20 वर्ष की आयु में पुण्य के गणेशनाथ वैद्य उर्फ बाबा महाराज का आशीर्वाद प्राप्त किया। उनका मार्गदर्शन उनके मामा पू. केशवराव गोखले ने संभव कराया। आशीर्वाद मिलने के बाद स्वामी बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने बाबा महाराज को आदरपूर्वक प्रणाम किया। भगवद्गीता में कहा गया है –

“तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया” गुरुओं से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछें और उनसे ज्ञान प्राप्त करें।

स्वामी ने पूछा: “महाराज, कहते हैं आशीर्वाद मिलने पर व्यक्ति परिपूर्ण हो जाता है, लेकिन मुझे ऐसा अनुभव नहीं हुआ।” साक्षात्कार से सीख प्राप्त करने वाले शिष्य को देखकर महाराज भी प्रसन्न हुए। महाराज ने उत्तर दिया: “दूध में खमीर डालते ही तुरंत दही नहीं बनता। सूरज उगते ही दोपहर नहीं हो जाती।” अर्थात् साधक को अपने प्रयास और समय से परिपक्व होना पड़ता है।

तुरंग में भी साधना

स्वामी ने गुरुओं द्वारा दी गई साधना का पालन जीवन भर किया। वे अंग्रेजों के समय में भी तुरंग में साधना करते थे। कठिन परिस्थितियों में भी उनका अभ्यास चलता रहा। उनके साथ तुरंग में एस. एम. जोशी, रावसाहेब पटवर्धन, शंकरराव देव जैसी मंडली भी थी। उनकी साधना देखकर लोग उन्हें स्वामी कहने लगे। अंततः उन्होंने स्वामीपद प्राप्त किया।

पुण्य का स्थायी त्याग

स्वामी ने पुणे में पढ़ाई की, 1934 में स्नातक परीक्षा के लिए पुणे से पावस आए। उन्होंने सोचा कि घर पर रहकर पढ़ाई करना और बाद में परीक्षा देना बेहतर है। नियति के अनुसार, वे पावस आए, लेकिन कभी भी पुणे वापस परीक्षा देने नहीं लौटे।

अत्यंत गंभीर बीमारी और पुनर्जन्म

पावस आने के बाद स्वामी गंभीर रूप से बीमार पड़े। छह महीने तक उन्हें भयंकर रोग

का सामना करना पड़ा। मृत्यु के बेहद करीब आने का अनुभव हुआ। उन्होंने अपने अमृतधारा काव्य में लिखा:

“अठराशे छप्पन शताब्दी, मृत्यु पावलो आम्ही।” इस बीमारी से ठीक होना उनके लिए एक प्रकार का पुनर्जन्म था। इस अनुभव ने उनका जीवन पूरी तरह बदल दिया। एक सिद्ध योगी के रूप में उनका पुनर्जन्म हुआ, लेकिन स्थायी शारीरिक दुर्बलता भी रही। चलने-फिरने और बोलने में सीमाएँ आईं।

नित्य संन्यासी

श्री स्वामी ने पारंपरिक रूप से संन्यास की भगवी वेशभूषा नहीं धारण की थी। भगवद्गीता में वर्णित अनुसार वे 'नित्य संन्यासी' थे। उनकी वृत्ति सदैव संन्यस्त थी, अर्थात् उन्होंने कभी किसी से द्वेष नहीं रखा, क्रोध नहीं किया। किसी भी वस्तु या विषय के प्रति आसक्ति नहीं रखी। वे सदा आत्मानंद में मग्न रहते थे।

स्वामी ने अपने उदाहरण से संसार को यह दिखाया कि परमेश्वर की प्राप्ति के लिए घर-बार छोड़कर जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि संन्यासी वृत्ति



रखी जाए और परमेश्वर की अनन्य भक्ति से साधना की जाए, तो परमेश्वर उसी स्थान पर प्राप्त होता है।

स्वामी की साधना नाथपंथीय सोहम् साधना थी। सोहम् का अर्थ है – “वह (परमात्मा) ही मैं हूँ।” प्रत्येक जीव परमात्मा का अंश है और उस परमात्मा तक पहुँचना ही मानवीय जीवन का ध्येय और उद्देश्य है। इस संसार में परमब्रह्म के अलावा और कोई चीज़ नहीं है। यह सारा दृश्य जगत केवल परमब्रह्म का खेल है। उन्होंने यह अद्वैत तत्वज्ञान स्वीकार किया।

स्वामी ने दूसरों को भी सोहम् मंत्र की दीक्षा दी और उनके जीवन को सुसम्पन्न बनाया। एक बार एक युवा लड़का किसी बहुत बड़े साधु से मिलने आया। उसने सामान्य वस्त्रधारी स्वामी को देखकर आश्चर्य व्यक्त किया। उसके भावनाओं को समझकर स्वामी ने कहा:

“अध्यात्म का अर्थ रहस्यमय बोलना या रहस्यमय आचरण नहीं है। अध्यात्म का अर्थ है सहज रहना, शांति से, आनंदपूर्वक ईश्वर की लीला का अनुभव करना। अध्यात्म का अर्थ है अखंड प्रसन्नता और परम शांति। असली परमार्थ वह है जो हमें वर्तमान परिस्थितियों में सुखपूर्वक जीना सिखाता है।”

अमानित्व

श्रीस्वामी ने कभी भी अपने महत्त्व या बड़ेपन का घमंड नहीं दिखाया। उनका आचरण और बोलचाल हमेशा सरल और विनम्र था। वे यह हमेशा ध्यान रखते थे कि किसी का मन आहत न हो। स्वामी ने गहन साधना कर आत्मअनुभव प्राप्त किया था। वे पूर्ण ज्ञानी पुरुष थे, फिर भी शिष्यों से बात करते समय कहते थे: “जो मेरे सद्गुरु ने मुझे दिया, वही मैं आपको देता हूँ।” इसमें गुरु के प्रति आदर और स्वामी के स्वभाव की नम्रता स्पष्ट झलकती है।

अप्रैल 1969 में श्री दीपलक्ष्मी मासिक ने स्वामी स्वरूपानंद का विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इस कार्य में उनके अंतरंग शिष्य श्री स्वामी अमलानंद ध्यान दे रहे थे। स्वामी ने उन्हें यह निर्देश दिया कि इस लेखन से किसी का भी हृदय आहत न हो।

तत्कालीन पुणे के एक प्रसिद्ध ज्योतिष गुरुवर्य व. दा. भट्ट भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने स्वामी की जन्मकुंडली पर लेख लिखने की इच्छा व्यक्त की। तब स्वामी ने कहा:

“लिखिए, लेकिन इसमें किसी भी तरह से मेरे गुरु की श्रेष्ठता दिखाने या तुलना करने का प्रयास न हो।”

कितना अद्भुत सरलता! स्वामी के हृदय को अभिमान या घमंड छू भी नहीं सकता था। गीता में इसे ‘अमामित्वम् अदम्भित्व’ कहा गया है। मनुष्य कभी धन की लालसा छोड़ देता है, लेकिन कीर्ति की लालसा आमतौर पर नहीं छोड़ता। स्वामी इन सभी मोहों से कोसों दूर थे।

आर्जवम् (सादगी और सरलता)

स्वामी कभी भी किसी को कठोर रूप से संबोधित नहीं करते थे। अपने छात्रों या शिष्यों से भी वे ‘अहो जाहो’ कहकर या आदेशात्मक लहजे में बात नहीं करते थे। उनकी भाषा हमेशा सुझावात्मक होती थी—जैसे, “आप ऐसा करेंगे तो अच्छा होगा”, “मुझे ऐसा लगता है”—शांत और कोमल स्वर में।

श्रीस्वामी अमलानंद उनके अंतरंग शिष्य थे। एक बार किसी विषय पर बातचीत के दौरान स्वामी ने कहा:

“हमें विवाद नहीं चाहिए। यह जगत्त्रिगुणों से भरा है। इसे समझकर ही बोलें और व्यवहार करें। यह मेरी आप सबको सलाह है।”

वास्तव में श्री अमलानंद स्वामी के परम भक्त थे। कई बार उन्होंने अपने प्राण की बाज़ी लगाकर भी स्वामी के शब्दों को सहा, फिर भी स्वामी केवल कहते: “यह मेरी सलाह है।”

स्वामी के हृदय की यह कोमलता और सरलता सीधे ज्ञानेश्वर माऊली की स्मृति को जीवंत करती है। ज्ञानेश्वर माऊली को संसार ने बहुत कष्ट दिए, पर उनके आचरण और वाणी में कभी कठोरता नहीं थी। माऊली ने हमेशा प्रार्थना की कि बुराई और दुष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट हों, पर बुरों का विनाश नहीं। जैसे माता चाहती है कि बच्चे की बुराई मिटे पर उसका नाश न हो। माऊली कहते थे कि अच्छे कर्मों की मिठास बढ़े, लोग एक-दूसरे से मिलवत रहें, जिससे दुष्टता और कुटिलता स्वतः दूर हो जाए।

यह कितनी व्यापक और सटीक प्रार्थना है! इसी तरह का कोमल और मृदुल हृदय स्वामी के भी अंदर था—लोहे से भी कठोर समाज में, उन्होंने भी इसे संजोकर रखा।

सर्वभूतहितेरता (सर्व प्राणी हितैषी स्वभाव)

स्वामी का स्वभाव हमेशा ‘लाभ के बिना स्नेह’ करने वाला था। उनके पूर्वजन्म की

एक घटना याद करें: एक बार वे रत्नागिरी से गुजर रहे थे और एक पुल के किनारे एक युवक उदास चेहरे के साथ बैठा दिखाई दिया। स्वामी को उसकी चिंता हुई। पास जाकर पूछताछ की तो पता चला कि स्कूल की फीस बाकी होने के कारण वह मैट्रिक की परीक्षा में बैठ नहीं सकता था। स्वामी ने अपनी जेब से एक ही दस रुपए की नोट निकाली और उस युवक के हाथ में दे दी। आगे चलकर वही लड़का करोड़पति बन गया। स्वामी की उस दस रुपए की नोट ने उसे अनंत नोटों तक पहुँचाया।

इसी प्रकार की एक घटना उनके बाद के जीवन में भी हुई। एक मुंबई का युवक नौकरी छूट जाने के कारण दुखी था और श्री अमलानंद के पास आया। अमलानंद स्वामी ने उसे पावस (गाँव) जाकर स्वामी से मिलने के लिए कहा। उसने स्वामी को पत्र लिखा। स्वामी ने उस पत्र का उत्तर तो दिया ही, साथ ही पावस आने के लिए पैसे भी मनीऑर्डर से भेजे।

ऐसी घटनाएँ केवल एक या दो नहीं थीं। स्वामी का हृदय मधु से भरा हुआ था। दूसरों के लिए वे हमेशा मध की बूँदें डालते रहते थे। और आज भी अपने भक्तों पर स्वामी ऐसी ही कृपा बरसाते हैं।

सर्वभूती समानता (सभी प्राणी और व्यक्तियों के प्रति समान दृष्टि)

स्वामी ने सभी जातियों और धर्मों के लोगों, स्त्री-पुरुष, गरीब-धनी, अज्ञानी-विद्वान सभी पर समान प्रेम और माया दिखाई। अंधविश्वास और झूठी प्रथाओं को देखकर स्वामी को चिढ़ होती थी। उन्हें यह दुखदायी लगता था कि हिंदू धर्म की स्थिति पतन की ओर बढ़ रही है।

पूर्वजन्म के स्वामी यानी आप्पा ने एक पत्र में लिखा था, “हमारा वेदांत केवल ग्रंथों में रह गया है।” उन्होंने उस समय की प्रथाओं की निंदा की, जैसे विधवाओं के लिए शिकायत का केस निकालना, अंतिम वर्ग (अंत्यज) के लोगों को कुत्तों-बिल्ली जैसी तुलना में कम आंकना। इसके बारे में उन्होंने मन से विरोध व्यक्त किया। आगे लिखा था, “हमारे ऋषि-मुनियों ने समानता का उद्घोष किया था। लेकिन हम उसके विपरीत व्यवहार कर रहे हैं।”

स्वामी ने कभी किसी को छोटा या कमतर नहीं आँका। उनके शिष्य समूह में सभी जातियों और धर्मों के लोग शामिल थे। मुस्लिम समाज के बाबालाल पठाण जैसे व्यक्ति भी स्वामी के अनन्य भक्त थे। इतना ही नहीं, बाबालाल ने स्वयं ज्ञानेश्वरी को हाथ से लिखा था।

आचार्योपासनम् (गुरु की उपासना)

अध्यात्म में गुरु का स्थान परमेश्वर के समान माना जाता है। अध्यात्म में गुरु अत्यंत आवश्यक होते हैं। परमेश्वरी शक्ति सद्गुरु के रूप में शरीर धारण कर मार्गदर्शन करती है, इसलिए सद्गुरु आवश्यक हैं। हमारे माता-पिता केवल इस जन्म में हमारी देखभाल करते हैं, लेकिन गुरु जन्मों-जन्मों तक हमारी परवाह करते हैं।

संत कबीर ने कहा हैः:

“गुरु गोविंद दोहु खड़े, किसके लागू पाव?
बालीहरी गुरु अपना, जिसने गोविंद दिखाया।”

जिसने हमें परमेश्वर का दर्शन कराया, वही गुरु अत्यंत महान हैं। इस संसार के महासागर से हमें मुक्त कराने के लिए सद्गुरु जैसा उद्धारक कोई नहीं।

श्रीस्वामी की अपने सद्गुरु बाबा महाराज के प्रति गहरी भक्तिभावना थी। बाबा महाराज केवल हस्तलिखित ज्ञानेश्वरी पढ़ते थे। उनकी उपयोग में आई वह प्रत बहुत जीर्ण हो गई थी। स्वामी ने सुंदर कागज लिया और उस पर सुलेख में पूरी ज्ञानेश्वरी लिखी। रोज़ लगभग सौ ओवियाँ लिखते थे। स्वामी ने पूरी ज्ञानेश्वरी लिखकर लगभग एक महीने तक उसका शुद्धलेखन जांचा और फिर वह प्रत बाबा महाराज को अर्पित की। अपने शिष्य के इस प्रेम को देखकर महाराज निश्चित ही धन्य हुए होंगे।

स्वामी स्वयं शिष्य से पाद्यपूजा, चरणतीर्थ, हार आदि जैसी शारीरिक सेवा स्वीकार नहीं करते थे। उनके लिए अंतरंग में शुद्ध भाव से साधना करना ही शिष्य से अपेक्षित सेवा थी।

स्थितप्रज्ञ

स्वामी ने अपनी सभी कामनाओं का त्याग कर दिया था। गोंदवलेकर महाराज के अनुसार उनकी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि “हो तो हो, न हो तो न हो।” यही उनकी समस्थिति थी।

समुद्र में सैकड़ों नदियाँ और नाले अपना पानी लाकर समुद्र में डालते हैं, लेकिन समुद्र अपनी सीमा कभी नहीं तोड़ता। अधिक बारिश होने पर भी समुद्र में बाढ़ नहीं आती, और कम बारिश होने पर समुद्र सिकुड़ता नहीं। सिकुड़ते हैं तो केवल तालाब! इसी तरह हम लोग परिस्थितियों की लहरों पर झूलते रहते हैं। सुख से उत्साहित हो जाते हैं और दुख से दब जाते हैं।

परंतु, किसी भी परिस्थिति में स्वामी महासागर की तरह शांत रहते थे। स्वामी के जीवन में अत्यधिक उलट-पलट हुई। युवावस्था में आरंभ किया गया राष्ट्रकार्य अधूरा छोड़ना पड़ा। गृहस्थाश्रम की स्थिति ठीक होने से पहले ही विघटित हो गई। जीवनभर शारीरिक दुर्बलता का सामना करना पड़ा।

फिर भी, वे एक क्षण भी विचलित नहीं हुए। वे लगातार अनुसंधान में लगे रहते और आत्मानंद में मग्न रहते। वे अपने लेखन को भी “अपना आत्मतृप्त” ही बनाने का प्रयास करते थे।

सगुणदर्शन

अनेक दैवी गुणों से युक्त इस अपने प्रिय भक्त को भगवान ने सगुण रूप में दर्शन दिया। रात के दस बजे का समय था। पावस जैसे छोटे गाँव में शांति छाई हुई थी। स्वामी टेबल के सामने शांत चित्त से बैठे थे।

अचानक, गड़गड़ाते बादलों जैसी एक बड़ी आवाज़ हुई और अत्यंत तेजस्वी गोलाकार प्रकाश ने पूरे परिसर को घेर लिया। ‘दिवि सूर्यसहस्रस्य’—हजारों सूर्य जैसे तेज़ एक साथ जमीन पर पड़े। परंतु उसका रूप अत्यंत आनंददायक था।

स्वामी चकित होकर ऊपर देखने लगे। तभी कानों में शब्द गूँजे, “वह गोदबोले कीधर है जिसने ज्ञानेश्वरी लिखी?” और उसके तुरंत बाद, अद्भुत, विस्मयकारी, अत्यंत सुंदर और आनंदमय श्री विष्णु का सगुण रूप प्रकट हुआ।

क्षणभर में वह रूप शांत हो गया, और स्वामी का जीवन धन्य हो गया।

ग्रंथसंपदा

श्रीस्वामी ने व्यापक ग्रंथरचना की। उनके सभी ग्रंथ प्रसादिक और मननीय हैं। लेकिन ज्ञानेश्वरी का उनका अभंग-अनुवाद विशेष महत्व रखता है। सामान्य लोगों को गीता समझ में आए, इसके लिए ज्ञानेश्वर महाराज ने मराठी में गीता पर भाष्य लिखा और ज्ञानेश्वरी ग्रंथ को सम्पूर्ण किया। आज उस समय से 700 वर्ष से अधिक समय बीत चुका है, इसलिए उस समय की भाषा अब समझ में नहीं आती।

श्रीस्वामी ने इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए ज्ञानेश्वरी का प्रचलित मराठी भाषा में अभंग-अनुवाद किया। इस दौरान उन्होंने ध्यान रखा कि मूल ज्ञानेश्वरी के काव्य या तत्त्वज्ञान का कोई भी अर्थ या भाव बिगड़े नहीं। ग्रंथ प्रकाशित करते समय उन्होंने व्यावहारिक सुझाव भी दिए—जैसे ग्रंथ का टाइप बड़ा हो और कीमत माफिक

हो। आज भी 'सेवा मंडळ, पावस' इस ग्रंथ की बिक्री अत्यंत माफिक कीमत में कर रहा है

भगवद्गीते के श्लोकों का भावार्थ उन्होंने "गीता" नामक भावानुवाद के रूप में प्रस्तुत किया। इसके साथ ही ज्ञानेश्वर माऊली के 'अमृतानुभव' और 'चांगदेव पासष्टी' ग्रंथों का भी अभंग-अनुवाद किया। ज्ञानेश्वर महाराज की वाङ्मय का प्रचलित मराठी में अनुवाद करने वाले स्वामी आधुनिक काल के ज्ञानेश्वर कहे जा सकते हैं।

'अमृतधारा' और 'संजीवनी गाथा' उनकी स्वतंत्र रचनाएँ हैं। 'अमृतधारा' कविता उनके आत्मवृत्त का प्रतीक है। बीमारी के समय उनका जो अध्यात्मिक अनुभव और घालमेल हुआ, वह इसमें प्रतिबिंबित है।

उदाहरण के लिए, उनकी दो पंक्तियाँ हैं:

**“जगज्जननि तव भक्ती-सुधेची पावन भिक्षा घाल,
दारिं पातला पहा तुझा हा भाग्यवंत कंगाल!”**

इन पंक्तियों में काव्यात्मक आविष्कार और स्वामी की उच्च भावना स्पष्ट दिखाई देती है। भक्ती की भिक्षा मांगने वाला यह कंगाल वास्तव में भाग्यशाली नहीं है क्या?

इसके अलावा, उन्होंने शिष्य को मार्गदर्शन देने वाले कई पत्र भी लिखे हैं, जिन्हें 'पत्र मंजुषा' के रूप में प्रकाशित किया गया है।

देसाई परिवार का योगदान

देसाई परिवार के बारे में बताए बिना स्वामी की जीवन गाथा पूरी नहीं हो सकती। कै. अण्णा देसाई से लेकर आज तक देसाई परिवार स्वामी की सेवा में लगा हुआ है। पहले पावस में भक्तों के रहने और भोजन की कोई सुविधा नहीं थी। उस समय, किसी भी स्थान से आने वाले, किसी भी जाति-धर्म के भक्तों के लिए देसाई परिवार ने अपने घर में व्यवस्था की। यह एक बहुत बड़ी बात है। पू. ताईआत्या और देसाई परिवार की बेटियों और पोतियों का भी इसमें बहुत बड़ा योगदान है। स्वामी ने देसाई परिवार के अनंत निवास में ४० वर्षों तक अखंड निवास किया। यहीं उन्होंने आत्मानंद में अंतिम श्वास लिया। जैसे द्वारका का राणा पांडवों के घर विराजमान हो गया!

श्रीस्वामीजी का महानिर्वाण

सन् 1971 से स्वामी की प्रकृति धीरे-धीरे क्षीण होती जाती थी। जुलाई 1974 से

स्वामी ने अवतार समाप्ति की तैयारी शुरू की। इसके लिए उन्होंने 15 अगस्त का दिन चुना, जो भारत का स्वतंत्रता दिवस था, उस स्वतंत्रता के लिए स्वामी ने अपने पूर्व जन्मों में संघर्ष किया था। यह योगी अरविंद का जन्मदिवस भी था और रामकृष्ण का महानिर्वाण दिवस। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि उन्हें भूगर्भ समाधि दी जाए। इसके संबंध में उन्होंने सभी विवरण लिखकर रखे। 28 जुलाई 1974 को स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में कहा, “मेरा अगला प्रवास शुरू हुआ है।” इसके बाद तीन बार—19, 38 और 20 बजे—स्वामी भावसमाधि में रहे। 15 अगस्त 1974 की उदास सुबह आई। सुबह 7:30 बजे दर्शनार्थियों को कमरे के दरवाजे से दर्शन दिया गया। सुबह 8 बजे उन्होंने मुश्किल से एक चमच दूध लिया। 8:30 के बीच उन्होंने दो चमच पानी लिया। 8:47 बजे स्वामी को ठसका लगा। उनके मुख में गंगाजल डाला गया और स्वामी ने देह का त्याग किया। देह त्यागने से पहले उन्होंने अपने कमरे में मौजूद श्री रामकृष्ण परमहंस और सद्गुरु बाबा महाराज के फोटो को वंदन किया। ओंकार का त्रिवार उच्चारण किया और पूरे इत्मीनान के साथ, विश्व कल्याण की इच्छा करते हुए, यह पावन मन वाले योगी परमात्मा स्वरूप में विलीन हो गए। श्री स्वामी का चरित्र उनके ही कृपा से सामने आया, परंतु इस युग पुरुष के चरित्र की सभी छटा शब्दों में व्यक्त करना असंभव है। स्वामी की एक सत्शिष्या, जिन्हें “स्वरूप कन्या” के नाम से जाना जाता है, यमुना माताजी के शब्दों में अपनी भावनाएँ व्यक्त करती हैं।

शब्दांत कैसे महिमान गाऊ?

त्या पावलांची नित लीन राहू ॥

“शब्दों में कैसे उनकी महिमा गाऊं?

उन चरणों में निरंतर लीन रहूँ ॥”

पुनः स्पष्ट करते हुए:

यह भाव कहता है कि उनके गौरव और दिव्यता को शब्दों में व्यक्त करना असंभव है। साधक के लिए असली सार्थकता इसी में है कि वह सद्गुरु के चरणों में निरंतर लीन रहे। ऐसे चरणों में आत्मसात होने से साधक का जीवन सफल और पूर्ण होता है।

– सौ. अनुराधा नरेश म्हाले, पुणे. मोबाईल: ९८२२८२२२३६

Email: anumhatre54@gmail.com

Shri Ram Mandir, Ayodhya



Image: Courtesy Deepak Singh